"जसवंत सिंह का रचना कर्म"

(भाषाभूषण के विशेष संदर्भ में)

एम• फिल• (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध

शोध निर्देशक

डॉ• रमण प्रसाद सिन्हा

शोध कर्ता

प्रेम कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

सन् 2008

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Dated 27/6/ 2008

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation/thesis entitle "**JASWANT SINGH KA RACHNA KARM : BHASHA BHUSHAN KE VISHESH SANDARBHA MEIN**" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

NAME : **PREM KUMAR**
(Research Scholar)

NAME **DR. RAMAN PRASAD SINHA**
(Supervisor)
CIL/SL&CS/JNU

PROF. **VIR BHARAT TALWAR**
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM : JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn. : 4217, (D) 26704217 Fax : (91-011) 26717603, 26717586

माँ और पापा जी को . . .

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं.

भूमिका — I-IV

प्रथम अध्याय

जसवंतसिंह का समकालीन रचना परिदृश्य — 1 – 32

द्वितीय अध्याय

जसवंतसिंह का रचना संसार — 33 – 80
- क. अनूदित रचनाएँ
- ख. मौलिक रचनाएँ

तृतीय अध्याय

रीतिकालीन संवेदना और भाषाभूषण — 81 – 110
- क. आचार्यत्व
- ख. शृंगार
- ग. भक्ति
- घ. वीरता

उपसंहार — 111 – 113

संदर्भ सूची — I - VI

भूमिका

हिन्दी की रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परंपरा में जसवंतसिंह का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने काव्यांगों का निरूपण कर हिन्दी काव्यशास्त्र को समृद्ध किया है। जसवंतसिंह (प्रथम) मारवाड़ के उन नरेशों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने अपनी वीरता, शौर्य, त्याग–बलिदान के साथ–साथ अपने वैदुष्य से विश्व को चमत्कृत किया है।

हिन्दी साहित्य में काव्यशास्त्रीय लेखन परंपरा का सूत्रपात भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में ही हो चुका था। लेकिन उसकी पूर्ण प्रतिष्ठापना चिन्तामणि के द्वारा हुई। तदनंतर रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की एक धारा–सी बह चली। वैसे तो हिन्दी काव्यशास्त्रीय आचार्यों का इस क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान नहीं रहा लेकिन काव्यशास्त्र जैसे दुरुह विषय को इन्होंने अत्यंत सरल रूप में हिन्दी में सहृदय मर्मज्ञ पाठकों के लिए प्रस्तुत किया। वस्तुतः हिन्दी काव्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रभाव लेकर लिखा गया है। इसलिए हिन्दी काव्य ग्रंथों में मौलिकता की न्यूनतम विद्यमानता है। आचार्य जसवंतसिंह ने भी इसी काव्यशास्त्रीय परंपरा का अनुकरण करते हुए 'भाषाभूषण' ग्रंथ की रचना की।

जसवंतसिंह मारवाड़ प्रदेश जोधपुर के महाराजा थे। इन्होंने मुगल सम्राट शाहजहां और औरंगजेब के निर्देशों पर अनेक युद्ध किये और विजय हासिल की। हम यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि राजकार्य और प्रशासनिक गतिविधियों में इतने व्यस्त रहते हुए भी इन्होंने अपने छोटे से जीवनकाल में इतने सारे ग्रंथों का प्रणयन कैसे कर लिया? 'भाषाभूषण' जैसे कठिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का निर्माण भी इन्होंने किया जिसके लिए समय की भी आवश्यकता होती है। फिर भी इन्होंने उचित समय देकर ग्रंथों को पूर्ण किया। मुझे जसवंतसिंह की इसी बात ने इनके ग्रंथों पर शोधकार्य करने को प्रेरित किया। प्रस्तुत लघुशोध प्रबंध 'जसवंतसिंह का रचना कर्म – भाषाभूषण के विशेष संदर्भ में' तीन अध्यायों में वर्गीकृत है। प्रथम अध्याय में कोई उप–अध्याय नहीं है। द्वितीय अध्याय में दो उप–अध्याय हैं और तृतीय अध्याय में चार उप–अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय "जसवंतसिंह का समकालीन रचना परिदृश्य" है। इस अध्याय में रीतिकाल के अन्तर्गत हमारे आलोच्य आचार्य जसवंतसिंह के समकालीन (1626 से 1678 ई.) रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि

जसवंतसिंह जिस समय रचनाएं कर रहे थे उस समय का रचना परिदृश्य कैसा था? अन्य रचनाकार किस प्रकार की रचनाएं कर रहे थे? प्रश्न उठता है कि तत्कालीन समय में क्या केवल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का ही निर्माण हो रहा था? इन प्रश्नों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। इस समय न केवल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना हो रही थी बल्कि भक्ति, वीर, रीतिमुक्त आदि प्रवृतियां भी प्रचलित थी और इन पर कवि रचनाएं कर रहे थे। आचार्य जसवंतसिंह ने भी दार्शनिक ग्रंथों की रचना की है। इस प्रकार इस अध्याय में जसवंतसिंह के समकालीन रचनाकारों तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। रीतिकालीन दरबारी परिवेश में राज्याश्रित कवियों में से अधिकांश ने आत्म– प्रदर्शन की भावना अथवा काव्य–रसिक–समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्रदान कराने के उद्धेश्य से रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। इसलिए इस काल में काव्यांग निरूपक ग्रंथों का विपुल भण्डार मिलता है। इसके साथ ही विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए तथा उनकी स्नायुओं को उष्णता प्रदान करने के लिए इन लोगों ने सामान्यतः श्रृंगारिक रचनाएं कीं, इसलिए रीतिकाल में यह मुख्य काव्य– प्रवृति के रूप में विद्यमान है। इसी श्रृंगारिकता की प्रमुखता के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दबी जबान से 'श्रृंगारकाल' कह दिया है। इधर इन कवियों द्वारा दरबार में रहते हुए अपने आश्रयदाताओं के दान, पराक्रम आदि का आलंकारिक वर्णन करने से जहां इन्हें धन–सम्मान मिलता था वहां प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएं करने से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी परिस्थिति में राजप्रशस्ति और भक्तिपरक रचनाओं पर भी इन कवियों ने लेखनी चलाई। दूसरी ओर रोजमर्रा के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं, दैनिक गतिविधियों तथा इन लोगों के कटु–मधुर वैयक्तिक अनुभव भी समय–समय पर नीतिपरक रचनाओं के रूप में व्यक्त होते रहते थे। जिसके कारण नीतिपरक रचनाओं का भी बाहुल्य है। रीतिकालीन रीतिबद्ध साहित्य, किंचित वैविध्यपूर्ण होते हुए भी, प्रायः एक ही भाव–सूत्र श्रृंगार में आबद्ध रहा है। इसमें भक्ति, नीति एवं वीर रसात्मक काव्य की प्रतिपादना इतनी विरल है कि इनका महत्व अत्यधिक गौण होकर रह गया है, लेकिन पूरी तरह से शून्य नहीं हुआ। इन विषयों की स्थापना रीतिकाल में निरंतर होती रही और वर्तमान में आलोचकों की आलोचनाओं के केन्द्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। आलोच्य शोध– प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इन्हीं विषयों को केन्द्र में रखकर 'जसवंतसिंह का समकालीन रचना–परिदृश्य' पर दृष्टिपात किया गया है।

द्वितीय अध्याय "जसवंतसिंह का रचना–संसार" है तथा इसे दो उप–अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है, (क) मौलिक रचनाएं और (ख) अनूदित रचनाएं। प्रथम उप–अध्याय में जसवंतसिंह द्वारा लिखित मौलिक रचनाओं का विवेचन किया गया है। जसवंतसिंह की मौलिक रचनाएं हैं– 'भाषाभूषण', 'आनंदविलास', 'दोवा', 'अपरोक्षसिद्धान्त', 'सिद्धान्तबोध', 'सिद्धान्तसार', 'अनुभव प्रकाश' और 'छुटक दोहा'।

जसवंतसिंह ने न केवल मौलिक रचनाएं लिखी बल्कि श्रीमद्भगवद् गीता का अनुवाद भी किया है। इन्होंने भगवद्गीता की टीका भी लिखी। इनका विवेचन द्वितीय उप–अध्याय (ख) अनूदित रचनाएं में किया गया है। प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध का अन्तिम अध्याय 'रीतिकालीन संवेदना और 'भाषाभूषण' है। इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि आचार्य जसवंतसिंह ने 'भाषाभूषण' नामक जो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखा है उसमें और समकालीन रीति आचार्यों द्वारा लिखित काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में कितनी समानता–असमानता है; 'भाषाभूषण' का वैशिष्ट्य क्या है? इस ग्रंथ की प्रमुख प्रवृतियों को चार उप–अध्यायों में वर्गीकृत किया किया गया है।इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जसवंतसिंह ने 'भाषाभूषण' ग्रंथ में किन–किन विषयों का स्पर्श किया है।

उपसंहार में निष्कर्ष रूप में जसवंतसिंह की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हुए इनकी साहित्यिक और आध्यात्मिक कृतियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक कृतियों में 'भाषाभूषण' एक ऐसी रचना है जो उन्हें एक कवि ही नहीं , उन्हें रीतिकालीन आचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित करती है। उन्होंने संस्कृत आचार्यों से प्रभाव ग्रहण करते हुए रस, अलंकार, नायक–नायिका भेद एवं काव्यांगों पर लिखा है।

आदरणीय शोध निर्देशक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा के कुशल मार्गदर्शन ने इस दुरुह कर्म को सहज व सरल बनाया। उनके द्वारा दिया गये अमूल्य सुझावों एवं समाधानों ने शोध कर्म को गत्वरता प्रदान की इसलिए उन्हें मैं सादर प्रणाम करता हूँ।

डॉ. राघव प्रकाश, डॉ. नीतू परिहार, डॉ. दिलीप राठौड़ तथा दिनेश कुमार (जीजाजी) के साथ समय–समय पर हुई वैचारिक बहसों ने प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध को सफलतापूर्वक पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अशोक कुमार, गणेश कुमार, अशोक मीणा का तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ जिन्होंने लघु शोध प्रबंध की भाषा और वर्तनी में कई सुधारात्मक कार्य किये।

अग्रज प्रदीप कुमार, सहोदरा राजेश्वरी, अमान राठौड़, भगवान बारूपाल तथा मनोहर सिंह चारण इन आत्मीय जनों द्वारा समय–समय पर शोध कार्य के लिए प्रोत्साहित करने के कारण मैं इन्हें सहार्दिक धन्यवाद देना मुनासिब समझता हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य में जे.एन.यू. पुस्तकालय, साहित्य अकादमी दिल्ली, साहित्य अकादमी उदयपुर, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर, मानसिंह पुस्तक प्रकाश जोधपुर से सामग्री ली है इसलिए वहां के कर्मचारियों को धन्यवाद देना उचित समझता हूँ।

मित्र चंदन तथा इरफान जिनकी लगन और तत्परता ने बिखरे शब्दों और पन्नों को लघु शोध प्रबंध का रूप दिया है, इन्हें भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

प्रेम कुमार

प्रथम अध्याय

जसवन्तसिंह (1626–1678) का समकालीन रचना–परिदृश्य

हिन्दी साहित्य का जब काल–विभाजन किया गया तब उत्तर–मध्यकाल को रीतिकाल के नाम से अभिहित किया गया और उसकी समय–सीमा संवत् 1643 ई. से 1843 ई. तक निश्चित की गई जो सर्वमान्य है। इन दो शताब्दियों में न केवल काव्यशास्त्र से संबंधित लक्षण ग्रन्थों की रचनाएँ हुई अपितु शृंगारिक रचनाएँ, वीर रसात्मक, भक्ति–काव्य, नीतिकाव्य, नाटक, अनूदित रचनाएँ, गद्य–पद्य सभी प्रकार की साहित्य सर्जना हुई। इसी काल में आचार्य–परम्परा का श्रीगणेश हुआ। आदिकाल में प्रमुखतः वीर रसात्मक और भक्तिपरक रचनाओं का बाहुल्य है तो भक्तिकाल में भक्ति–भाव की सरस–सलिल धारा प्रवाहित होती है किन्तु रीतिकाल एक ऐसा युग है जिसमें सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है। रीतिकाल सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है और यह प्रवृत्तियाँ आगे चलकर आधुनिक काल में विशाल रूप धारण करते हुए अपने क्षेत्र को विस्तृत कर लेती है।

रीतिकाल की यह दो शताब्दियाँ भारतीय राजनीतिक इतिहास में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य के विघटन तथा अन्ततः उसके पूर्ण विनाश को समेटे हुए है। जहाँगीर से प्राप्त मुगल साम्राज्य शाहजहाँ के समय अपने वैभव के चरमोत्कर्ष पर था तथा औरंगजेब के पश्चात् नाकाबिल तथा भोगविलास में डूबे रहने वाले मुगल बादशाहों के कारण विशाल मुगल साम्राज्य का विघटन आरंभ हो गया तत्पश्चात् रीतिकाल के अवसान तक मुगल साम्राज्य धूल–धुसरित हो गया। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में कह सकते हैं कि "जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति–काव्य के चरम वैभव के बाद सं. 1700 के आस–पास की कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक इतिहास में मुगल साम्राज्य भी अपने संपूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त हासोन्मुख हो चला था।"[1]

रीतिकाव्य की सामाजिक स्थिति भी विचित्र थी। जो उच्च वर्ग से सम्बन्धित थे वे शानौ–शौकत तथा विलास–वैभव से युक्त जीवन–यापन करते थे लेकिन जो गरीब जनता थी वह दुःखी थी तथा बड़ी कठिनाई से अपना जीवन गुजारती थी। ऊपर से राजा–महाराजाओं ने लगान के लिए कठोर नियम बना रखे थे। अकाल में भी लगान वसूली होती थी। लगान वसूली के लिए मंत्री, राज्य कर्मचारी अपनी मनमानी करते थे। खेत–खलिहान में जो उत्पादन होता था वह लगान में चला जाता था जिससे इन गरीब किसानों को दो वक्त की रोटी भी मयस्सर नहीं होती थी। तन पर साबूत कपड़े नहीं होते थे जिससे जाड़े की रातों में इनका जीना मुश्किल हो जाता था। लेकिन

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 1

सम्राटों को इससे कोई मतलब नहीं था। वे अपनी शानौ–शौकत में कोई कमी नहीं लाना चाहते थे। "सम्राट की व्यक्तिगत जीवन चर्या पर अपार धन–राशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुगल परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्त–प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असंभव था। सम्राट के लिए प्रतिवर्ष एक हजार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार में आने वाले अमीर–उमराओं को भेंट कर दिये जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण–खचित वस्त्रों, रत्न–अंशों और बहुमूल्य इत्रों से आपूर्ण रहता था। मुगल अन्तःपुर का वैभव इन्द्र–भवन को मात करता था।"[2]

मुगल दरबार के बादशाहों के इस विलास–वैभव का सीधा असर राजस्थान के राजा–महाराजाओं पर पड़ता था और उनके अधीनस्थ अधिकारियों, दरबारियों की तो बात ही क्या ? "छोटे–छोटे अधिकारियों और रईसों के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग–विलास में ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियों के अष्टयामों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।"[3]

इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी था जिसमें कवि, कलावन्त आते थे। ये बादशाहों, राजाओं के राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे। ये अपने बुद्धि–कौशल के बल पर काव्य–रचना कर बादशाहों को खुश करते थे तथा उनसे धन, मान, पद की फल प्राप्ति करते थे। जब मुगल साम्राज्य का विघटन हुआ तो ये कवि भी नये आश्रयदाताओं की खोज में निकल पड़े। इन कवियों का गरीब जनता से कोई सरोकार नहीं था। ये कवि यश प्राप्त में कम तथा द्रव्य–लालसा को अधिक महत्व देते थे। गरीब जनता के पास इतना धन नहीं होता था कि वे इनकी काव्य–कृतियों पर पुरस्कार दे सके और न ही इतने शिक्षित थे कि उनकी कविता का रस ले सके। फलतः ये कवि निम्न वर्ग से कटकर उच्च वर्ग के आश्रय में रहने लगे। बिहारी जैसे कवियों ने अपनी कविता में नागर संस्कृति को ग्राम्य संस्कृति से अच्छा बताया है। उन्होंने ग्राम्य नारी में उतना सौन्दर्य नहीं देखा जितना नागर संस्कृति में पली–बढ़ी नारी में देखा है। रीतिकालीन कवि ग्रामीणों के जीवन तथा उनकी दिनचर्या को महत्व नहीं देते थे बल्कि राजा, रईस आदि दिन–रात के आठ–प्रहरों में कैसा जीवन व्यतीत करते थे उनका 'अष्टयाम' में बड़ी रुचि

---

[2] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 10
[3] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र,पृ. 12

लेकर वर्णन करते थे। उनके लिए तो राजा और रानी ही कृष्ण और राधा के रूप में थे। ये कवि पूरे रीतिकाल में अपनी इस मानसिकता से उबर नहीं पाये थे।

रीतिकाल में दरबारी संस्कृति का प्रभुत्व था। रीतिकालीन कवियों का यह आश्रय स्थल था। रीतिकालीन कवियों का दरबार के बाहर अस्तित्व न के बराबर था। इन कवियों की यात्रा सामाजिक धरातल से सीधे राजनीतिक दरबार पर जाकर समाप्त होती थी। अपने आश्रयदाता के तुष्टिकरण के लिए दरबारी कवियों ने अपने वर्ण्य–विषय के रूप में राज्य–विलास, राज–प्रशंसा, दरबारी कला–विनोद, नख–शिख, ऋतु–वर्णन, अष्टयाम, नायक–नायिका भेद, आलम्बन और आश्रय के रूप में राधा और कृष्ण अथवा कृष्ण और राधा, घोर शृंगारिक चित्रण, रस, अलंकार, और छन्द का चमत्कारिक प्रयोग आदि का चयन किया। इनकी कृतियों पर राजा भी अशर्फियां लुटाते थे इसीलिए ये दरबारी कवि राजाओं की रक्त–स्नायुओं को झंकृत करने के लिए घोर शृंगारिक धरातल पर उतरकर रचनाएँ करने लगे।

प्रस्तुत अध्याय में जसवन्तसिंह की रचनाओं का समकालीन परिदृश्य पर विचार किया जायगा। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित होकर विकसित हुआ था। संस्कृत काव्यशास्त्र में पांचों सम्प्रदाय– रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति का हिन्दी पर पूर्ण प्रभाव था। रीतियुगीन कवियों पर इनका संयुक्त प्रभाव रहा है। जसवन्तसिंह भी इसी रीतिकाल की उपज थे। इन्होंने अपने लक्षण ग्रन्थ 'भाषाभूषण' की रचना रीतिकालीन परम्परा के वशीभूत होकर की। वे संस्कृत काव्य–शास्त्र से प्रभावित हुए हैं। 'कुवलयानंद' तथा 'चन्द्रालोक' की छाया लेकर इस ग्रन्थ की रचना हुई। इन्होंने 'भाषाभूषण' के अलावा 'दूहा' या दोहा (शृंगार प्रधान), 'प्रबोध नाटक' तथा आध्यात्मिक रचनाओं में 'आनंदविलास', 'अनुभवप्रकाश', 'अपरोक्षसिद्धान्त', 'सिद्धान्तबोध' और 'सिद्धान्तसार' है साथ ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भी पद्यानुवाद किया है। वस्तुतः जसवन्तसिंह का शास्त्र ज्ञान अद्भुत है और इनकी रचनाएँ पाण्डित्यपूर्ण हैं।

जसवन्तसिंह मारवाड़ के उन नरेशों में अग्रगण्य है जिन्होंने अपनी वीरता, शौर्य और त्याग–बलिदान के साथ–साथ अपने वैदुष्य से विश्व को चमत्कृत किया है। वे महाराजा गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे। जसवन्तसिंह का जन्म 26 दिसम्बर 1626 में बुरहानपुर (दक्षिण) में हुआ था तथा 28 नवम्बर 1678 ई. को 52 वर्ष की अवस्था में जमरूद (अफगानिस्तान) में उनका देहान्त हो गया। जसवन्तसिंह जिस समय रचना कर रहे थे उस समय रीतिकाल में

अन्य कई रचनाकार भी रचनाएँ कर रहे थे। समकालीन रचनाशीलता के सन्दर्भ में जसवंतसिंह की रचनाओं का वैशिष्ट्य पहचानना इस अध्याय का उद्देश्य है।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के आरंभ होने से पूर्व ही रीतिनिरूपण करने वाले काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रवर्तन हो चुका था। इसे जानने के लिए हमें थोड़ा पीछे भक्तिकाल में जाना पड़ेगा। भक्तिकाल में काव्यांगों का उल्लेख करने वालों में प्रमुख है– कृपाराम–'हिततरंगिणी', सूरदास–'साहित्य लहरी', नंददास–'रसमंजरी', रहीम–'बरवै–नायिका भेद', सुदंरदास–'सुंदर शृंगार' और केशवदास की 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', 'छन्दमाला'।

कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' (सं. 1541) में रस, अलंकार आदि काव्यांगों का निरूपण किया है जिसका आधार ग्रंथ भरत का 'नाट्यशास्त्र' है, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है:

'कृपाराम यों कहत है भरत ग्रन्थ अनुमानि।'

'हिततरंगिणी' शुद्ध रीति ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य ग्रन्थ ही नहीं, व्यक्त रूप से लक्षण ग्रन्थ है, जिसमें अत्यंत स्वच्छ लक्षण तथा उदाहरणों के द्वारा साफ–सुथरी भाषा में सम्पूर्ण नायिका–भेद का अत्यंत विस्तार के साथ वर्णन किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्थों से अधिक समृद्ध है। इसके अतिरिक्त इसका एक गुण यह भी है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नहीं है अपितु स्थान–स्थान पर विवेचनात्मक भी है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'हिततरंगिणी' में भिन्न–भिन्न भेदों का समन्वय और संगठन करने का प्रयत्न किया है।

सूरदास के 'सूरसागर' में भी रीतिकालीन सभी प्रवृत्तियाँ मिल जायेंगी। विद्यापति की भांति संभोग तथा वियोग के सभी पहलुओं (जिसमें विरह की दस दशाएँ हैं) का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, साथ ही उनके चित्रों में अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिकाभेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नहीं छोड़ा। सूरदास का दूसरा ग्रन्थ 'साहित्य लहरी' दृष्टिकूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह सदृश लगता है, जिसके फलस्वरूप उसे रीति के अन्तर्गत अलंकार परम्परा में शामिल किया जा सकता है।

रीतिकालीन कवियों ने उपजीव्य ग्रन्थों के रूप में संस्कृत ग्रन्थों (चन्द्रालोक, कुवलयानंद, रसमंजरी) को आधार बनाकर रीति–काव्यों की रचनाएँ की थीं। रीति काव्य के अन्तर्गत नायिका–भेद, अलंकार विवेचन, पिंगल शास्त्र, रस–निरूपण आदि सभी के दर्शन होते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों का उद्देश्य किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर काव्यशास्त्रियों के जिज्ञासुओं के लिए हिन्दी में

सरस और सुबोध रूप में विशिष्ट काव्यांगों का विवेचन प्रस्तुत करना मात्र रहा है। इस रूप में हिन्दी साहित्य केशवदास का विशेष ऋणी है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र हिन्दी के सामान्य पाठक के लिए दुर्बोध था। अतः हिन्दी के कई पाठक काव्यशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ थे। इसलिए आचार्य केशवदास ने काव्य मर्मज्ञ सुकुमार बुद्धि पाठकों के लिए 'कविप्रिया' (1601 ई.) की रचना की। कवि के ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य ही यही था कि काव्यशास्त्र के जटिल नियमों को पाठकों के समक्ष सरल व सुगम रूप से प्रस्तुत करे। कवि के ही शब्दों में–

समूझें वाला बालकन, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रियन केशव करि, छमियो, कवि अपराध।।

'कविप्रिया' में कुल 16 प्रभाव है। इन्होंने आधार ग्रन्थ के रूप में दण्डी के 'काव्यादर्श' को रखा है। इसके आधार पर ही केशवदास ने अलंकारों का निरूपण और वर्गीकरण किया है। अलंकारों के लक्षण दण्डी के 'काव्यादर्श' से लिए है। इस ग्रन्थ में कवि की मौलिकता कहीं नहीं दिखाई पड़ती है। जहाँ कहीं भी अलंकारों के नामों से छेड़छाड़ की है वहाँ पर वे नाम उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। अपने नाम की सार्थकता प्रकट नहीं करते, बल्कि वे गड़बड़ी पैदा करते हैं। फिर भी इनका ग्रन्थ इस रूप में उल्लेखनीय है कि हिन्दी के सुधी पाठकों के लिए काव्यांगों को सरल रूप में प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास किया।

'कविप्रिया' से पहले केशवदास ने रस पर 'रसिकप्रिया' (1591 ई.) की रचना की थी। इस ग्रन्थ में शृंगार रस की प्रमुखता है क्योंकि कुल 16 प्रकाशों में से प्रथम 13 प्रकाशों में इसी रस का सांगोपांग निरूपण है। शृंगार रस के प्रकरण के अन्तर्गत ही नायिकाभेद का निरूपण किया गया है जो कि अधिकांशतः भानुदत्त की 'रसमंजरी' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' पर आधारित है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "हिन्दी की इस रीति परम्परा का पहला निश्चित स्फूरण है 'हिततरंगिणी'– परन्तु फिर भी, उसकी वास्तविक गौरव–प्रतिष्ठा हुई 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचनाओं के साथ।"[4]

उपर्युक्त कवियों में से अधिकांश ने नायक–नायिका भेद विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है, कुछ ने अलंकार ग्रन्थों का और कुछ ने इन दोनों का। नायिका भेद के लिए वे प्रायः भानुदत्त के ऋणी है तथा अलंकारों के लिए प्रायः अप्पयदीक्षित के। इस प्रकार रीतिकाल के पूर्व ही 16वीं शताब्दी में रीतिग्रंथों का प्रणयन हो चुका था। लेकिन केशवदास ने जब काव्यांगों पर

[4] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 185

अपनी कलम चलाई थी तब से 50 साल के अनंतर यह धारा मंदगति से प्रवाहित हो रही थी। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस ढंग से केशवदास ने हिन्दी काव्यशास्त्र में अपनी दस्तक दी थी वैसी दस्तक अगले 50 वर्षों तक कोई भी नहीं दे सका। ऐसी ही एक अच्छी कोशिश पचास वर्ष पश्चात् चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'कविकुलकल्पतरू' (1650 ई.) रचकर की। जिसके पश्चात एक सुदीर्घकालीन परम्परा का सूत्रपात हुआ।

चिन्तामणि त्रिपाठी रत्नाकार त्रिपाठी के पुत्र और हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि भूषण और मतिराम के बड़े भाई थे। इनका जन्म 1600 ई. में हुआ था। तथा देवलोकगमन 1680–85 के आसपास ठहरता है।

हिन्दी में प्रवर्तित वास्तविक काव्यशास्त्रीय परम्परा का आरंभ आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरू' से होता है। इस ग्रन्थ का सभी रीति ग्रन्थों पर प्रभाव रहा है। इनके इस सर्वांगनिरूपक ग्रंथ में आठ प्रकरण है जिसमें काव्य–स्वरूप, काव्यभेद, काव्यरूपक, गुण, अलंकार, रीति, दोष, शब्दार्थ निरूपण, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यंग्य एवं नायक–नायिकाभेद का विस्तार के साथ विवेचन किया है।

चिन्तामणि का निरूपण यद्यपि व्यापक एवं गंभीर है, किन्तु वे मौलिक अवदान के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र को अधिक प्रदान नहीं कर पाये। क्योंकि 'कविकुलकल्पतरु' में मम्मट के 'काव्यप्रकाश', 'विश्वनाथ के 'प्रताप रुद्र यशोभूषण', धनंजय के 'दशरूपक', अकबर शाह की 'शृगार मंजरी' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर काव्य के दशांगों का विवेचन प्रस्तुत किया है।"[5] 'कविकुलकल्पतरू' में काव्यशास्त्रीय लक्षणों का प्रतिपादन दोहा, सोरठा छन्दों में किया गया है और उदाहरणों को अधिकांशतः कवित्त–सवैया में प्रस्तुत किया गया है।

इनका दूसरा ग्रन्थ है 'पिंगल'। इन्होंने नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरंदशाह के आश्रय में अपना ग्रन्थ 'पिंगल' बनाया। जैसा कि ग्रंथ के प्रारंभ में दिये दोहे से स्पष्ट है–

"चिन्तामणि कवि को हुक्म किये साहि मकरंद।
करौ लच्छि लच्छन सहित भाषा पिंगल छंन्द।।"[6]

पिंगल का आधार ग्रंथ प्राकृत पिंगल है। अतः छन्दों का क्रम विधान तथा छन्दों का लक्षण–निरूपण भी तद्नुसार ही है। इन्होंने इस ग्रन्थ में कुछ नवीन छन्दों की परिकल्पना भी की है। इनसे पूर्व केशवदास ने 'छन्दमाला'

---

[5] हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक डॉ. महेन्द्र कुमार, सं. नगेन्द्र, पृ. 310
[6] हिन्दी रीति साहित्य, भगीरथ मिश्र, पृ.90

पुस्तक की रचना की थी, लेकिन वह शास्त्रीय आधार पर खरी नहीं उतरती थी। डॉ. सत्यदेव चौधरी के शब्दों में "उसमें (छन्दमाला) छन्दशास्त्र के प्रारंभिक प्रकरण लघु, गुरू, गण, प्रस्तार, भर्कटी आदि का कोई उल्लेख न था। चिंतामणि के पिंगल में छन्द सम्बन्धी सभी विचार मिलते हैं।"[7]

इनके अन्य ग्रन्थ 'काव्यविवेक', 'काव्यप्रकाश' और 'रामायण' है। इनके द्वारा लिखी गयी 'रामायण' कवित्त और अन्य नाना छन्दों में बहुत अपूर्व है। इन ग्रन्थों के द्वारा हम कह सकते हैं कि इन्होंने केवल काव्यशास्त्रीय अंगों पर ही नहीं लिखा बल्कि 'रामायण' जैसे भक्ति–परक ग्रन्थ की रचना भी की। चिन्तामणि यद्यपि आचार्य के रूप में में प्रतिष्ठित हैं तथापि कवि रूप में भी रीतिकाल में अपना अहम् स्थान रखते हैं।

चिन्तामणि का महत्व इस दृष्टि से विशेष माना जाता है कि उन्होंने केशवदास से भिन्न मार्ग का अनुसरण किया और अलंकारवादी भामह, दण्डी आदि की परम्परा को छोड़कर मम्मट, विश्वनाथ की परम्परा को ग्रहण कर रचना कर्म में प्रवृत्त हुए। चिन्तामणि के पश्चात् रीतिकाल के अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी परम्परा को ग्रहण किया। मौलिकता तथा काव्य–सौष्ठव के लिए तो उनकी ख्याति विशेष नहीं है, परन्तु काव्यशास्त्र के सभी पक्षों को व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट रूप में व्यक्त करने का महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय कार्य चिन्तामणि ने ही किया है।

रीतिकालीन आचार्यों जिन्होंने श्रृंगाररस को रसराज की संज्ञा से अभिहित किया है, उनमें मतिराम का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। ये तिकवांपुर जिला कानपुर में 1604 ई. में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता रत्नाकार त्रिपाठी थे। मतिराम के प्रणीत ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है– 'फूलमंजरी' (1619ई.), 'रसमंजरी', 'ललितललाम', 'मतिराम सतसई' (1681ई.), 'साहित्यसार', 'लक्षणश्रृंगार', 'अलंकार पंचाशिका' (1690ई.), 'वृत्तकौमुदी' (1701ई.), 'रसराज' (1633–43ई.)।

मतिराम का प्रसिद्ध अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ 'ललितललाम' (1663ई.) बूंदी में राव भाऊ सिंह के आश्रय में रचा गया। जब इन्होंने यह ग्रन्थ पूर्ण किया तब इन्हें पुरस्कृत किया गया था। "इसके एक छन्द से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना के परिणामस्वरूप कवि को 4 हजार मुद्राएँ, 32 हाथी तथा रिड़ी–चिड़ी नामक दो ग्राम पुरस्कार में दिये थे।"[8] इस ग्रन्थ में 401 छन्द है, जिनमें आधे से अधिक 270 दोहे हैं, शेष कवित्त और सवैये। इसमें कवि ने

---

[7] हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ 241
[8] राजस्थान की हिन्दी कविता, प्रकाश आतुर, पृ. 74

कुछ अलंकारों के लक्षणों के उदाहरणों में अपने आश्रयदाता का प्रशस्ति गान किया है जो कि रीतिकाल की एक विशेष प्रवृत्ति है। क्योंकि अपने आश्रयदाता के रिझाकर ही कोई भी कवि अपने आन, बान और शान में श्रीवृद्धि कर सकते थे।

'ललितललाम' में कवि ने मात्र अलंकारों का ही विवेचन किया है तथा उसमें भी शब्दालंकारों को छोड़कर सिर्फ और सिर्फ अर्थालंकारों का ही विवेचन किया है। इसमें लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त–सवैयों में दिये है। इन्होंने इसके आधार ग्रन्थ के रूप में अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' को लेते हुए भी कतिपय स्थलों 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ) और 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) की शैली का अनुसरण किया है। इस ग्रन्थ में अधिकांश लक्षण ठीक होने पर भी चलताऊ है तो कहीं–कहीं ऐसा महसूस होता है कि उदाहरण और लक्षण में तारतम्य नहीं है। फिर भी 'ललितललाम' की विशेषता उनके सरस, मधुर, बोधगम्य उदाहरण हैं, जो कवि की प्रौढ़ कवित्व शक्ति के परिचायक है। उदाहरणों में प्रशस्ति के अतिरिक्त श्रृंगार, भक्ति, उद्धव–गोपी संवाद, नीति उपदेश आदि विषय–वैविध्य के भी दर्शन होते हैं।'[9] 'ललितलाम' में उनके वीररसात्मक वर्णन भी ओजस्वी एवं आकर्षक बन पड़े हैं। गज–वर्णन भूषण की तरह उनका भी प्रिय विषय था। देव के अतिरिक्त मतिराम ही ऐसे कवि हैं जिनके लक्षण–ग्रन्थो में इतने अधिक उत्कृष्ट उदाहरण एक साथ मिलते हैं।

मतिराम ने अपने जीवनकाल का अधिकांश समय राज्याश्रय में बिताया। मतिराम ने आगरा में जहाँगीर की इच्छा के फलस्वरूप 'फूलमंजरी' (1699) नामक साठ दोहों की रचना का प्रणयन किया, जिसमें 51 दोहों में किसी न किसी फूल का उल्लेख हुआ है। इनका 'छन्दसार' नामक पिंगल ग्रन्थ महाराजा शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इसी प्रकार कुमायुँ के राजा उद्योतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिए 'अलंकार पंचाशिका' (1691) रची गयी। इसके पूर्व शोभनाथ नामक एक गुणी राजा के लिए 'मतिराम सतसई' (1681) लिखी। इनका लिखा एकमात्र परम मनोहर ग्रन्थ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। 'रसराज' में प्रमुखतः श्रृंगार रस को रसराज के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। प्रधान रूप से इसमें नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इनके नायिका भेद का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' है।

मतिराम मूलतः कवि है और इनका यह कवि रूप हमें उनकी रचनाओं से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। विशेषकर 'बिहारी सतसई' की तरह रचित उनकी 'मतिराम सतसई' में जो भावाभिव्यंजना हुई है वह अद्वितीय है। सतसई

---

[9] राजस्थान की हिन्दी कविता, प्रकाश आतुर, पृ. 75

के दोहे सरसता में बिहारी के दोहों की समानता रखते हैं। उनकी भाषा में प्रांजलता देखते ही बनती है, एक–एक शब्द दोहों में सशक्त ढंग से विराजमान है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "सारांश यह है कि मतिराम की–सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।"[10]

इसी परम्परा को कायम रखते हुए कुलपति मिश्र ने भी जयपुर के कुर्मवंशी महाराजा जयसिंह के पुत्र महाराजा रामसिंह के आश्रय में अपनी रचनाओं का निर्माण किया। इनका कविताकाल 1660–1700 ई. के मध्य ठहरता है जो जसवन्तसिंह का भी काल हैं। 'साक्ष्यों' के आधार पर इनके पांच ग्रन्थ बताए जाते हैं– 'रस रहस्य' (1670), 'द्रोण पर्व' (1680), 'मुक्तिरंगिणी' (1686), 'नखशिख', 'संग्रामसार' आदि। इनका 'रसरहस्य' ग्रंथ प्रसिद्ध है तथा इसके कारण की कुलपति मिश्र भी प्रसिद्ध हैं। यह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है तथा इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना अपने आश्रयदाता रामसिंह की आज्ञानुसार उनके राजमहल में की। इस ग्रंथ में कुल आठ वृतांत है और 652 पद्य। आठ वृतान्तों में क्रमशः काव्य–लक्षण, काव्य–प्रयोजन, काव्य–हेतु, काव्य–पुरूष रूपक और काव्य–भेद, शब्द–शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण–दोष, अलंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। इन्होंने नायक–नायिका भेद तथा छन्द को छोड़ दिया। कुलपति मिश्र ने प्रधान रूप से मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का आधार विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के अनुसार व्यवस्थित किया है। रसनिरूपण में भी विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा केशवदास की 'रसिकप्रिया' का भी आंशिक प्रभाव है। कुलपति मिश्र ने यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया है लेकिन उन्होंने उसे उल्था मात्र प्रस्तुत नहीं किया। बल्कि उन्होंने पूर्ववर्त आचार्यों के ग्रन्थों पर कुछ आक्षेप भी लगाए हैं तथा उसकी जगह अपना मत भी प्रस्तुत किया है। "कुल मिलाकर इन्होंने काव्यशास्त्र के सभी पक्षों पर गहनता से विचार किया है और यत्र–तत्र प्राचीन मान्यताओं का खण्डन–मण्डन किया है। जहाँ इनकी मनीषा को गति मिली है वहाँ कुल नवीन धारणाएँ प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। संस्कृत ग्रन्थों का आधार लेकर भी विषय प्रतिपादन सर्वत्र अपने ढंग से किया है।"[11] इसी प्रकार प्रकाश आतुर कहते हैं – "रीतियुगीन हिन्दी के अन्य तथाकथित आचार्यों की भांति यद्यपि कुलपति ने भी संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण किया है किन्तु फिर भी विशेषता यह रही है कि इन्होंने विषय को सरल और बोधगम्य बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है

---

[10] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, वही, पृ. 179
[11] रीतिशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्य, डॉ. मानवेन्द पाठक, पृ. 124

और अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक गांभीर्य और शुद्धता का निर्वाह किया है।"[12]

कुलपति के अन्य ग्रन्थों में 'संग्रामसार' है जो कि महाभारत के 'द्रोण–पर्व' का पद्यानुवाद है। इसका निर्माण महाराजा रामसिंह की आज्ञा से 1676 ई. में हुआ था। यह राजस्थान में बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है। इनके एक अन्य ग्रन्थ 'युक्ततरंगिणी' में सात सौ दोहे है। यह अत्यन्त शृंगारिक ग्रन्थ है जिसमें शृंगारिक उक्तियों की भरमार है।

मिश्रबन्धुओं ने कुलपति मिश्र को यशस्वी कवि बिहारी का भांजा माना है।[13] कुलपति मिश्र ने विविध प्रकार के ग्रन्थ लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। यहाँ तक कि इन्होंने अनुवादित ग्रन्थों की रचना भी की है। यद्यपि कुलपति मिश्र आचार्यत्व की श्रेणी में गिने जाते हैं तथापि कवि–कर्म में भी दक्ष थे। वस्तुतः कुलपति का झुकाव आचार्यत्व की ओर ही अधिक रहा है फिर भी उन्हें काव्यत्व और आचार्यत्व में सामंजस्य बिठाने में उचित महारथ हासिल हुई है। परवर्ती कवियों में सोमनाथ और प्रतापसाहि जैसे कवि– आचार्य इनसे प्रभावित हुए हैं।

रीतिकाल में शृंगार रस की प्रधानता रही। अकारण नहीं कि रीतिकाल को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' ही कह दिया है। इस काल में जहाँ शृंगार रस की प्रचुरता तथा प्रधानता हो, आलंबन रूप में नायक कृष्ण तथा नायिका राधा को काव्य में अलंकृत किया जा रहा हो, नायक–नायिका–भेद जैसे विषयों पर प्रबुद्ध कवियो की लेखनी चल रही हो, जहाँ राजभवन के विलास, वैभव, सुरा, सुन्दरी, संगीत तथा दैनंदिन की क्रियाओं को अति शृंगारी रूप देकर 'अष्टयाम' जैसे ग्रन्थों का निर्माण किया जा रहा हो, दरबारी संस्कृति का बढ़–चढ़कर वर्णन किया जा रहा हो, वहाँ ऐसी परिस्थितियों में एक ऐसा भी कवि हुआ जो रहता तो अन्य कवियों की तरह दरबार में था लेकिन उस कवि ने उक्त सभी रीतिकालीन विषय–क्षेत्र को तिलांजलि दे दी थी। वह कवि शिरोमणि भूषण थे और उनका वर्ण्य–विषय था– वीरदर्प से परिपूर्ण ओज की कविताएँ करना। "भूषण रीतिकाल में एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने उस समय की सामाजिक, नैतिक दिशा के प्रति जागरूकता दिखाते हुए विलासिता एवं स्वार्थपूर्ण राज प्रशंसा का स्पष्ट

---

[12] राजस्थान की हिन्दी कविता, प्रकाश आतुर, पृ. 62
[13] मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ. 472

विरोध किया है।"[14] रीतिकाल के ये एक ऐसे कवि थे जिन्होंने रीतिकालीन शृंगारिक परंपरा को वीररस में परिवर्तित कर दिया। इसी कारण रीतिकाल में कवि भूषण तथा उनकी रचनाओं का अत्यधिक महत्व है। "घोर–शृंगार के युग में वीररस की अपूर्व कविता लिखकर अपना स्थान बना लेने में ही भूषण कवि का कृतित्व है। भूषण के काव्य का उद्देश्य वाणी को कलियुगीन स्रेण वातावरण से निकलकर वीरत्व की दीप्त सरिता में पवित्र करना था–

भूषण यों कलि के कवि राजन, राजन के सुन पायनसानी
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।।"[15]

इस प्रकार कवि भूषण ने रीतिकालीन स्रेण वातावरण को पाक–साफ करने के लिए जो बीड़ा उठाया था उसमें वे काफी सफल रहे थे।

चिन्तामणि व मतिराम के भाई कवि भूषण का जन्मकाल 1613 ई. है। चित्रकूट के सौलंकी राजा रुद्र ने इनको 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया। तत्पश्चात् वे इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये जिससे इनके वास्तविक नाम का कुछ पता नहीं चलता। इनका जीवनकाल – 1613 ई. से 1715 ई. है।

कवि भूषण रचित तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं– 'शिवराज भूषण' 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' और यही प्राप्य है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा' आदि ग्रन्थ भी विद्वानों द्वारा परिगणित किये जाते हैं।

कवि भूषण कई आश्रयदाताओं के यहाँ रहे अर्थात् इन्होंने कई राजाओं के यहाँ जाकर अपने मनोरथ की पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने की सोची होगी, लेकिन उन्हें ऐसा कोई सुयोग्य राजा नहीं मिला। जो उनके अन्तर्भावों से सामंजस्य बिठा सके। लेकिन अन्त में भूषण को इनकी रूचि के अनुसार ऐसे राजा मिले जो हिन्दू पद पादशाही तथा हिन्दूओं के आत्मगौरव के रक्षक थे और ये थे छत्रपति महाराज शिवाजी और पन्नानरेश छत्रसाल बुन्देला। कहा जाता है कि महाराजा छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिस पर इन्होंने कहा था 'सिवा को बखानों की बखानों छत्रसाल को।'

वैसे तो रीतिकाल में शृंगारिकता की प्रधानता रही फिर भी कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में उनकी वीरता का ओजपूर्ण शैली में जो वर्णन किया है, वह केवल स्तुतिगान ही है। इन कवियों द्वारा जो ये स्तुतिगान तथा युद्धों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता था वह सिर्फ स्वार्थवश

---

[14] रीतिकाव्य संग्रह, जगदीश गुप्त, पृ. 47
[15] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, लेखक– डॉ. ओम प्रकाश, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 342

किया गया चापलुसितापूर्ण प्रवृत्ति थी जो सम्पूर्ण रीतिकाल में प्रसारित थी। पर इनके वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति नहीं थी जिसके कारण वे आज याद नहीं किये जाते। जबकि भूषण के साथ ऐसा नहीं हुआ, उन्होंने जिसे अपने आश्रयदाताओं के रूप में चुना वे कोई साधारण राजा, महाराजा नहीं थे बल्कि वे हिन्दू धर्म, जाति, मानवता आदि के रक्षक थे। भूषण के चरित्र नायक अन्य राजाओं की तरह विलासिता में मग्न नहीं रहते थे। भूषण ने इन दोनों नायकों को लेकर वीरतापूर्ण ओज शैली में जो काव्य–रचना की वह यथार्थ के धरातल पर विद्यमान है। रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय दमन में तत्पर हिन्दू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही और बढ़ती गयी। इसी से भूषण के वीर रस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए।"[16] 'शिवराज भूषण' की रचना 1653 ई. में हुई। यह एक अलंकार ग्रन्थ है। भूषण ने इस ग्रन्थ का नामकरण इस प्रकार से किया कि इसमें अपने चरित्र, नायक, स्वयं का नाम तथा जो विषय (अलंकार) है, सबका समागम हो जाता है। यह इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। 'शिवराज भूषण' एक अलंकारिक ग्रन्थ है। जिसमें लक्षण रूप में अपने चरित्र नायक की वीरता का यशोगान किया गया है। इस ग्रन्थ में अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त सवैया, छप्पय आदि त्रिविध छन्दों में प्रस्तुत किये है। "'शिवराज भूषण' का विषय यद्यपि अलंकार निरूपण कहा गया है फिर भी कवि का प्रधान उद्देश्य अलंकार वर्णन नहीं है प्रत्युत परम्परा के अनुसार शिवराज के उज्ज्वल चरित्र का संकीर्तन करना है।"[17]

'शिवराज भूषण' में 382 में से 350 छन्दों में अलंकार के लक्षण तथा उदाहरण है। इस ग्रन्थ में 105 अलंकारों का निरूपण है जिसमें 99 अर्थालंकार चार शब्दालंकार तथा शेष दो चित्र तथा संकर अलंकार है। 'शिवराज भूषण' पर जयदेव के 'चन्द्रालोक' तथा मतिराम के 'ललितललाम' नामक अलंकार ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है। चूँकि मतिराम तथा भूषण दोनों भाई थे और मतिराम ने 'ललितरललाम' ग्रन्थ का निर्माण भूषण से पहले किया था अतः उसका अधिक प्रभाव रहा। यहाँ तक कि काफी अलंकारों के लक्षण तो हुबहू भूषण के 'शिवराज भूषण' में मिल जाते हैं। "इस बात की पुष्टि के लिए मालोपमा, उल्लेख, छोकापह्नुति, दीपक, निदर्शना आदि के लक्षण देखें जा

---

[16] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 180
[17] भोंसला राजदरबार के हिन्दी कवि, डॉ. कृष्ण दिवाकर, पृ. 130

सकते हैं, जिनमें न केवल भाव साम्य है, वरन् शब्दावली भी वही है। कहीं–कहीं तो केवल कवि का नाम का ही भेद है, जैसे मालोपमा का लक्षण देखिए–

"जहाँ एक उपमेय की, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान।। (ललितललाम)
जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान।।"[18] (शिवराज भूषण)

भूषण ने 'शिवराज भूषण' ग्रंथ की रचना कर कोई मौलिक अवदान हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत नहीं किया अपितु यह ग्रंथ रचकर एक तो रीति परम्परा का केवल अनुसरण मात्र किया है, दूसरे अपने चरित्र नायक के स्तुतिगान के मंतव्य को पूर्ण करने का सार्थक प्रयास मात्र किया है। इन्होंने अपनी तरफ से सामान्य विशेष तथा भाविक छवि नामक दो नये अलंकारों का नामकरण अवश्य किया है किंजु परवर्ती विद्वानों के अनुसंधान के फलस्वरूप ज्ञात होता है कि वे नवीन अलंकार नहीं है। बल्कि ये केवल पुराने अलंकारों के ही नये नाम है। लेकिन भगीरथ मिश्र के अनुसार "हाँ, इनके उदाहरण अधिकांश वीर भाव के हैं, यह इनकी मौलिकता अवश्य है, जो भूषण को कवि समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान और गौरव प्रदान करती है।"[19] इन उदाहरणों के विषय में डॉ. कृष्ण दिवाकर अपना मत रखते हुए कहते हैं "इन उदाहरणों में संवत् 1713 से संवत् 1730 तक की शिवाजी के जीवन की प्रमुख राजनैतिक घटनाओं तथा विजयों, उनके प्रभुत्व, आतंक, यश तथा धन आदि का वर्णन है। कवि ने इन उदाहरणों में शिवाजी का उदात्त तथा भव्य व्यक्तित्व खड़ा किया है। भूषण के कवित्व की प्रतिभा इन उदाहरणों में देखी जा सकती है।"[20]

कवि भूषण ने अपनी दूसरी काव्य कृति भी शिवाजी को अर्पित की है। 'शिवाबावनी' नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिवाजी से सम्बन्धित बावन छन्द हैं। 'शिवाबावनी' में भूषण ने छत्रपति शिवाजी की वीरता, दानशीलता, युद्धवर्णन ओजपूर्ण शैली में किया है। जिसके विषय में डॉ. कृष्ण दिवाकर कहते हैं कि– "शिवराज भूषण की भांति इसमें अलंकारों की सीमा का बन्धन न होने से 'शिवाबावनी' के छन्द अधिक ओजपूर्ण, प्रबल एवं गौरवयुक्त

---

[18] हिन्दी रीति साहित्य, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 54
[19] हिन्दी रीति साहित्य, पृ. 54
[20] भोंसला राजदरबार के हिन्दी कवि, पृ. 130

दिखाई देते है। वीर, रौद्र तथा भयानक रस के अद्वितीय उदाहरण भी इसमें पाये जाते हैं।"[21]

'शिवाबावनी' में अधिकांश छन्द शिवाजी की सेना का अभियान के लिए प्रयाण, शत्रुओं पर प्रभाव, शिवाजी के आतंक से शत्रुओं की दुर्दशा, शिवाजी का असामान्य पराक्रम, शिवाजी पर विजय प्राप्त करने में औरंगजेब की असफलता, शिवाजी के अभाव में हिन्दुओं की दुर्दशा की कल्पना अथवा शिवाजी के प्रादुर्भाव से हिन्दुओं का कल्याण आदि अनेक विषयों पर है। शिवाजी के अतिरिक्त अन्य नरेशों की प्रशस्ति के छन्द भी इसमें प्राप्त होते हैं।

कवि भूषण की तीसरी कृति 'छत्रसाल दशक' है। यह मूलतः ग्रन्थ न होकर केसरी पन्ना नरेश छत्रसाल बुन्देला विषयक दस छन्दों का संग्रह मात्र हैं छत्रसाल ने मुगलों के साथ कई लड़ाइयाँ लड़ी थीं। शिवाजी उनके आदर्श रूप थे। वे स्वयं अच्छे कवि थे तथा अपने दरबार में गुणीजन कवियों का यथोचित सम्मान करते थे। 'छत्रप्रकाश' के रचयिता कवि गोरेलाल उन्हीं के आश्रित दरबारी कवि थे। 'छत्रसाल दशक' में भूषण ने अपने प्रिय राणा का प्रशस्ति गान किया है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त भूषण विरचित तीन अन्य ग्रन्थों का भी जिक्र किया जाता है वे हैं– 'भूषण हजारा', 'कालिदास हजारा' की तरह बहुत से कवियों की रचनाओं का संग्रह हो सकता है। 'भूषण उल्लास' अलंकार ग्रन्थ और 'दूषण उल्लास' दोष दर्शन के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

कवि नेवाज अन्तर्वेद के रहने वाले 1680 के आसपास सक्रिय थे। ये औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के आश्रय में भी रहे। इन्होंने 'शकुन्तला नाटक' (1680 ई.) नामक पद्य ग्रन्थ की रचना की। नाटक नाम से यह भ्रम होता है कि यह गद्यात्मक नाटक है जबकि वास्तविकता यह है कि यह दोहा चौपाई, सवैया आदि छन्दों में पद्यबन्ध शकुंतला संबंधी आख्यान है। 'शकुन्तला नाटक' के अतिरिक्त इनके कुछ फुटकल कवित्त भी मिलते हैं जो कि मुख्यतः शृंगार प्रधान हैं जिसमें इनकी काव्य कुशलता व्यक्त होती है। इन्होंने विषय के अनुरूप शब्दों का चयन किया है जिससे इनकी कवि प्रतिभा का आभास होता है। "रसिक होने के कारण शृंगार वर्णन में कहीं–कहीं अत्यधिक नग्न रूप भी ग्रहण कर लिया है। संयोग शृंगार इनका प्रिय विषय प्रतीत होता है। संभोग

---

[21] वही, पृ. 132

शृंगार के लिए जिन प्रसंगों को इन्होंने चुना है वे रति संभोगपरक है अतः श्लील मार्यदा से दूर होने के कारण भोग प्रधान हो गये हैं।"[22]

कवि नेवाज ने अपने फुटकल कवित्तों में रीतिकाल के तत्कालीन सामाजिक वातावरण को ही शृंगार की चाशनी में डुबोकर काव्य सर्जना की है।

रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह देव भी आश्रयदाताओं के आश्रय में रहे बल्कि यों कहिए कि अलग–अलग आश्रयदाताओं की खोज में भटकते रहे। इस प्रकार वे जीविकोपार्जन की लालसा में जीवनपर्यनत आश्रयदाताओं के आश्रय के लिए भटकते हैं। उनकी इस लालसा के फलस्वरूप समय–समय पर राज्याश्रय के साथ–साथ जमींदारों और रईसों के यहाँ भी उन्हें आश्रय मिला।

देव का पूरा नाम 'देवदत्त' था। वे काव्य कृतियों मे अपने उपनाम देव का ही प्रयोग करते थे। ये इटावा निवासी थे और इसके पिता का नाम बिहारीलाल दूबे था। इन्होंने अपना पुष्प ग्रन्थ 'भावविलास' सन् 1689 ई. में लिखा। यह ग्रन्थ इन्होंने 16 वर्ष की आयु में लिखा था अतः इनका जन्म 1673 ई. में हुआ। यह ग्रन्थ लिखकर देव ने आजम शाह को सुनाया था। 'भावविलास' का वर्ण्य–विषय शृंगार है। यद्यपि देव का यह रस और अलंकार निरूपक ग्रन्थ है तथापि इसमें प्रधानता नायक–नायिका भेद को ही दी गयी है। इसमें 384 प्रकार की नायिकाओं का वर्णन मिलता है। 'भावविलास' में पांच विलास है। प्रथम विलास में स्थायी भाव रति, विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) तथा अनुभाव का विवेचन है। दूसरे विलास में सात्विक और संचारी भावों का विवेचन है। तीसरे विलास में रस का वर्णन है। रस के दो भेद किये हैं– लौकिक और अलौकिक। चौथे विलास में नायक–नायिका के भेद–उपभेद किये गये हैं। पाँचवें विलास में, केशव के अनुकरण पर अलंकारों के 39 भेद किये गये हैं। तथा शेष सभी अलंकारों को इन्हीं का भेद–उपभेद माना गया है।

इस कार देव ने रीतिकालीन परम्परानुसार लक्षण ग्रंथ 'भाव विलास' का प्रणयन किया। डॉ. रामकुमार शर्मा लिखते हैं– "भाव विलास का वर्णन क्रम भानुदत्त की रसतरंगिणी से पर्याप्त साम्य रखता है। शृंगार के दो उपभेद तथा अलंकारों के नाम और लक्षण केशव से गृहीत है। यद्यपि भेद उपभेद अनुदित है तो भी देव के उदाहरण अपने है। ग्रन्थ रचना में अधिकतर दोहा सवैया का प्रयोग किया गया है। कहीं–कहीं कवित्त और छप्पय भी दिखाई पड़ जाते हैं।

---

[22] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, लेखक विजयेन्द्र स्नातक, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 416

इसमें न तो अत्यधिक विस्तार है और न ही दुरुहता अतः विषयाभिव्यक्ति सहज रूप से हुई है।"[23]

देव उन आचार्यों में गिने जाते हैं जिन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विचार किया है। देव ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने काव्य–ग्रन्थों में कुछ नवीन उद्‌भावनाएं की हैं तथा अपने मत को पुष्ट करने के लिए उत्कृष्ट उदाहरण भी पेश किये हैं। रस तथा नायिका भेद में इन्होंने स्वतन्त्र पथ का अनुसरण किया है। नायिकाओं का वर्गीकरण इन्होंने देश–जाति आदि नवीन आधारों पर किया है। उन्होंने नवीन अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं।

देव ने अपने ग्रन्थ 'अष्टयाम' (1689 ई.) की रचना भावविलास की रचना के साथ की अथवा इसके कुछ समय पश्चात् की। इतिवृत्तात्मकता के कारण इसमें 'भावविलास' जैसी श्रेष्ठता नहीं आ पायी। 'अष्टयाम' में कुल 129 छन्द है, जिनमें 65 दोहे, 33 सवैया और 31 कवित घनाक्षरी है। देव ने 'अष्टयाम' की रचना वैष्णव कवियों की परम्परानुसार की थी, जिसका विषय अलौकिक न होकर लौकिक था। डॉ. रामकुमार शर्मा के अनुसार "अष्टयाम के अन्तर्गत देव ने चौबीस घंटों को आठ यामों में विभक्त कर प्रत्येक याम को आठ घड़ियों में बाँटकर नायक–नायिका के शृंगारमय कार्यक्रम की प्रस्तुति की है जो तत्कालीन उच्च–वर्ग के भोगविलास और शृंगारिकता का द्योतक है।"[24]

वस्तुतः 'अष्टयाम' रीतिकालीन राजसी विलास वैभव, भोग–विलास को प्रस्तुत करने वाला एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें नायक–नायिका के रूप मे जिस श्रीकृष्ण और राधा का वर्णन किया गया है वह कोई ओर नहीं बल्कि सामन्ती विलास वैभव में जीने वाले–तत्कालीन राजा और उसकी रानी है। जो तत्कालीन रीतिकालीन समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

देव का ग्रन्थ 'भवानी विलास' (1698 ई.) भवानीदत्त को समर्पित है। इस ग्रन्थ के आधार रूप में देव ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' और विश्वनाथ के 'साहित्यदपर्ण' को ग्रहण किया है। और उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर ही देव ने रसों का विवेचन किया है। डॉ. मानवेन्द्र पाठक लिखते हैं "इस ग्रंथ में देव ने रस को राधा और कृष्ण से उद्‌भूत आनन्द के रूप में स्वीकार लिया है। वे शृंगार को ही सभी रसों का मूल मानते हैं।"[25]

---

[23] देव और पदमाकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा, पृ. 36
[24] देव और पद्‌माकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा पृ. 37,
[25] रीतिशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्य, डॉ. मानवेन्द्र पाठक, पृ. 127

देव ने 'शब्दरसायन', 'वैराग्यशतक' और 'देव माया प्रपंच' (नाटक) आदि की रचना स्वतन्त्र रूप से की थी। इसे इन्होंने किसी राजा या जमींदार को समर्पित नहीं की। उपर्युक्त ग्रंथों में देव की वैराग्य प्रवृत्ति का पता चलता है। ऐसा भान होता है कि जीवन के अंतिम पड़ाव में–अनवरत आश्रयदाताओं की खोज में भटकने के कारण–संसार के प्रति उदासीन हो गये थे। इसी का परिणाम था कि इन्होंने भक्ति की ओर प्रयाण किया। जगदीश गुप्त लिखते हैं "एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे आश्रयदाता की खोज ने देव को खिन्न और विरक्त बना दिया। 'नारिन्द' का ध्यान छोड़कर वे 'गुविन्द' की ओर उन्मुख हुए और 'विषय के संग' जाने वाले की भर्त्सना करते हुए उसे 'राधारविन्द के वारिधि' में डूबने की कल्पना करने लगे।"[26]

महाकवि देव में जैसी अनुभूति की गहराई और अन्तर्दृष्टि परिलक्षित होती है वैसी रीतिकाल के किसी भी अन्य कवि में दुर्लभ है। उनका सौन्दर्यबोध भी औरों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत था।

हिन्दी साहित्य में कवि मान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनका पूरा नाम मानसिंह था और कविता में ये अपना नाम कवि मान लिखा करते थे। मिश्र बन्धुओं ने इनका कविता काल 1660 ई. माना है। कवि मानकृत 'राजविलास' नागरी–प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसमें मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (प्रथम) का जीवन चरित्र वर्णित है। उसकी रचना का प्रारंभ 1677 ई. में हुआ था। इस प्रकार मिश्र बन्धुओं द्वारा कवि मानसिंह का 1660 ई. का रचनाकाल दिया गया है वह भ्रमात्मक सिद्ध हो जाता है।

कवि मान कृत 'राजविलास' में अठारह खण्ड हैं। ये विलास कहे गये हैं। इनकी छन्द संख्या 1527 है। 'राजविलास' में सर्वप्रथम सरस्वती–वंदना की गयी है। इसके अनंतर चित्तौड़ के मोटी राजा चित्रांगद और बप्पा रावल का इतिहास दिया गया है। द्वितीय विलास में बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली दी गयी है। तदुपरांत 148 वें छन्द से महाराणा राजसिंह का जीवन वृतान्त प्रारंभ होता है, जो ठेठ अंतिम विलास तक चला गया है। रीतिकालीन परिपाटी तथा तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार कवि मान ने महाराजा राजसिंह का जीवन–वृत्तांत तथा उनके वैभव–विलास, युद्धों का अत्यंत सटीक वर्णन किया है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया कहते है "यह समूचा वृत्तांत बहुत रोचक एवं काव्य–गुणों से ओत–प्रोत है और

---

[26] रीतिकाव्य संग्रह, जगदीश गुप्त, पृ. 62

इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का बहुत संरक्षण किया गया है। महाराजा राजसिंह की प्रशंसा में कहीं–कहीं अत्युक्ति अवश्य हुई है।"[27]

'राजविलास' में महाराणा राजसिंह के संबन्ध में जो प्रशंसा की गई है वह केवल राज्योचित कवियों की परम्परागत काव्य–शैली का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन चंद, देव, पद्माकर इत्यादि हिन्दी के कवियों ने किया है।

'राजविलास' की भाषा ब्रजभाषा है। इसकी भाषा बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं अलंकार बहुल है। उसमें थोड़ी–सी कठोरता अवश्य है जो वीररस के वर्णन में तो अरुचिकर प्रतीत नहीं होती, पर शृंगार रस के वर्णन में कानों पर हल्का–सा आघात करती है।

'राजविलास' में प्रसाद एवं माधुर्य की मात्रा न्यून और ओज की अधिक है। वर्णन की स्वाभाविकता, कथा का संगठन, इतिहास की सत्यता आदि गुणों का जो सुन्दर स्वरूप इसमें प्रस्तुत किया गया है वह बहुत ही प्रांजल है। महाराणा राजसिंह अपने समय के विख्यात हिन्दू नेता थे। मुगल सम्राट औरंगजेब भी इनसे खौफ खाते थे। मेवाड़ में मुगल सम्राट इनके समय में हस्तक्षेप कम ही करते थे। ऐसे वीर सेनानी का जीवन चरित्र जिस तल्लीनता से लिखा जाना चाहिए वैसी ही तल्लीनता से उसमें लिखा गया है। सचमुच यह हिन्दी का गौरव ग्रंथ है।

राजस्थान में चारण जाति में एक विशिष्ट शक्ति थी। वे राज्याश्रित रहकर उनकी प्रशंसा में ग्रन्थो का प्रणयन करते थे। ऐसे कई चारण कवि हुए है जो न केवल राजमहल में रहकर कविता करते थे बल्कि समय आने पर अपने हाथ में कलम की जगह तलवार भी उठाते थे। और कई ऐसे चारण कवि थे जिन्होंने कविता की स्वस्थ परम्परा का निर्वहण किया और एक नरहरिदास जैसे कवि भी हुए जिन्होंने 'अवतार चरित्र' लिखकर चारण जाति का उद्धार किया। 'अवतार चरित्र' चारण जाति का एक अत्यंत लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसको पढ़े बिना एक चारण कवि की शिक्षा अपूर्ण समझी जाती है। इसकी चित्रित और अचित्रित दोनों प्रकार की हस्तलिखित प्रतियाँ भारी संख्या में राजस्थान के चारण–भाटों के घरों, राजभंडारो आदि में पड़ी मिलती है।

कवि नरहरिदास रोहड़िया शाखा के चारण लक्खा जी के पुत्र थे। इनका जन्म 1591 ई. और देहांत 1676 ई. में की थी। इसमें चौबीस अवतारों का सविस्तार वर्णन है। इसकी छन्द संख्या 16000 के ऊपर है।

---

[27] राजस्थान का पिंगल साहित्य, डॉ. मोतीलाल मेननरिया, पृ. 91

'अवतार चरित्र' में कवि की मौलिकता के दर्शन बहुत कम ही होते हैं। इसमें दिया हुआ रामावतार वर्णन तुलसी कृत 'रामचरित मानस' का अनुवाद मात्र है। जहाँ कहीं थोड़ी भिन्नता की प्रतीति होती है वह भी केशवदास की 'रामचन्द्रिका' पर आधारित है। इनके अन्य ग्रन्थों में हैं– 'दसम स्कंधभाषा', 'रामचरित्र कथा', 'अहिल्या पूर्व प्रसंग', 'वाणी', 'नरसिंह अवतार कथा' और 'अमरसिंह का दूहा'।

मध्यकाल में वृंद कवि का उल्लेखनीय स्थान है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इनको केवल एक सूक्तिकार मानते हैं। इनके व्यक्तिगत जीवन और इनकी कृतियों आदि के विषय में हिन्दी साहित्य में बहुत कम लिखा गया है।

वृंद का वास्तविक नाम 'वृन्दावन दास' था। इनके पूर्वज बीकानेर के रहने वाले थे। परन्तु बाद में इनके पिताश्री रूपजी जोधपूर राज्यान्तर्गत मेड़ते मे आ बसे थे। जहाँ 1643 ई. में इनका जन्म हुआ था। ये जब दस वर्ष के थे इनके पिता ने इनका विद्यार्जन के लिए काशी भेज दिया। काशी से लौटकर जब ये अपने जन्म–स्थान मेड़ते आये तब वहाँ पर इनका बड़ा सम्मान हुआ और जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) ने कुछ भूमि पुण्यार्थ देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। कालान्तर में महाराजा जसवन्तसिंह ने इनका परिचय मुगल सम्राट औरंगजेब के कृपापात्र वजीर नवाब मुहम्मद खां से भी करा दिया, जिससे आगे जाकर इनका शाही दरबार में प्रवेश हो गया।

कवि वृन्द कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के गुरू थे। वृन्द ब्रजभाषा में कविता करते थे। इन्होंने ब्रजभाषा में ग्यारह ग्रंथ की रचना की जिनके नाम निम्नलिखित है–

'सम्मेतशिखर छन्द', 'भावपंचाशिका', 'शृंगारशिक्षा', 'पवनपचीसी', भाषा हितोपदेश', 'वृन्दसतसई', 'वचनिका', 'सत्यस्वरूपरूपक', 'यमकसतसई', 'हितोपदेशाष्टक' और 'भारत कथा' आदि।"[28] इसके अतिरिक्त एक अन्य रचना 'बारहमासा' (1668) भी है। 'बारहमासा' (1668) में बारहों महीनों का सुन्दर वर्णन है। 'सम्मेतशिखर छन्द' (1668ई) वृंद की प्रथम रचना है। इसमें 8 छप्पय हैं, जिनमें जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तीर्थ 'सम्मेतशिखर' का माहात्म्य कहा गया है। इस प्रकार से यह हिन्दू धर्म से इतर एक भक्तिपूर्ण रचना है। इससे कवि वृन्द की जैन धर्म के प्रति आस्था प्रतीत होती है।

कवि वृन्द ने अपना अगला ग्रन्थ 'भावपंचाशिका' (1686ई.) औरंगाबाद में लिखा था। इसमें पच्चीस दोहे, और पच्चीस सवैये हैं, जिनके शृंगार रस के

---

[28] राजस्थान का पिंगल साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, पृ. 82

विभाव, अनुभाव, संचारी भाव का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है। इसमें शृंगार के विविध भावों के अनुसार सरस छन्द लिखे गये हैं। "यद्यपि यह ग्रन्थ छोटा है तथापि इसकी रचना सरस एंव हृदयग्राहिणी है और वृन्द की विलक्षण–कवित्व शक्ति का परिचय देती है। भाषा भी इसकी बहुत प्रौढ़, परिष्कृत और श्रुतिमधुर है।"[29]

कवि वृन्द कृत 'नैन बतीसी' (1686ई.) के अन्तर्गत नेत्रों के महत्व तथा नेत्रों द्वारा प्रकट विभिन्न भावों का चित्रण है। इसमें कवि ने रीति का आश्रय लेकर नखशिख, राग रंग, अंजन, रस और विरह का चित्रण किया है। कवित्व की दृष्टि से 'नैन बतीसी' बहुत उत्कृष्ट तो नहीं है, पर युगीन परम्परा से जुड़ी हुई है। युगीन परम्परा से तात्पर्य यह है कि मध्यकाल में जो रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ थी उसका पूरा अनुसरण वृन्द कवि ने इस ग्रन्थ में किया है। इसमें दोहा, सवैया और घनाक्षरी छन्दों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वृन्द कोरे नीति के ही रचयिता नहीं थे। इन्होंने रसोक्ति और वक्रोक्ति वाली भी कुछ रचना की है। वृन्द की उपर्युक्त रचनाएँ रीतिबद्ध परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनकी उपर्युक्त रचनाएँ इस तथ्य को निर्मूल सिद्ध करती हैं कि वे एक सूक्तिकार हैं। इन्होंने सरल, सरस और विदग्ध सभी प्रकार की काव्य–रचना की है।

रीतिकाल के सामन्ती पृष्ठभूमि में एक अत्यंत लोकप्रिय कवि का आविर्भाव हुआ। जिन्हें हिन्दी कवियों की गौरवपूर्ण परम्परा में शामिल किया जाता है। कविवर बिहारी का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ गोविन्दपुर गाँव में 1603 में हुआ था।

बिहारी मूलतः शृंगारिक कवि है। जिन्होंने मुख्यतः शृंगारिक दोहों को ही रचा है। वे आचार्यों की श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की। हाँ वे काव्य सिद्धान्तों से अनभिज्ञ नहीं थे। बिहारी एक सजग कलाकार थे। इसलिए उन्होंने काव्य–रचना करते समय इन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को अवश्य ध्यान में रखा। जिससे वे रीतिसिद्ध कवि कहलाए।

रीतिकाल में अन्य कवियों ने अपने आचार्यत्व को दर्शाने के लिए लक्षण ग्रन्थों की रचनाएँ की और कई अन्य कवियों ने एक साथ कई–कई रचनाएँ लिख डाली। लेकिन फिर भी वे हिन्दी साहित्य में इतने प्रसिद्ध नहीं हुए। वहीं बिहारी ने रीतिकाल के उस प्रतियोगितामय वातावरण में मात्र गिनती के एक ग्रन्थ की रचना की और वे उसी के बल पर हिन्दी साहित्य में प्रसिद्धि प्राप्त कर गये। रीतिकाल में कई ऐसे भी कवि हुए है जिन्होंने अपने जीवन काल में

[29] वही, पृ. 82

Jawaharlal Nehru University Library

कई काव्य रचनाएँ कीं लेकिन आज उनको कौन जानता है। वे काल के गाल में ऐसे समा गये कि उनको आज कोई पूछता तक नही। हाँ देव, मतिराम, पद्माकर आदि ऐसे कवि हैं जो अपने काव्य–गुणों के कारण अच्छे कवियों में गिने जाते है और देव जैसे कवि की बिहारी से तुलना भी की जाती है। लेकिन फिर भी हम कह सकते हैं कि बिहारी जैसी लोकप्रियता उन्हें कहाँ?

बिहारी ने केवल एक ग्रन्थ लिखा और उसी के बल पर वे हिन्दी साहित्य के उच्चतम सोपान पर पहुँच सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं "'शृंगाररस' के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक–एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक–एक रत्न माना जाता है।[30]

बिहारी हिन्दी साहित्य में मुक्तक कविता में सिरमौर समझे जाते हैं। 'बिहारी सतसई' में कुल 713 दोहे हैं। अपने जीवनकाल में बिहारी ने केवल यही एक ग्रन्थ बनाया जो हिन्दी–साहित्य भण्डार का अनमोल रत्न और हिन्दी भाषा–भाषियों के गौरव की वस्तु माना जाता है। यह आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह की आज्ञा से लिखा गया था–

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद।।

यह हिन्दी की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से हो जाता है कि इस पर अब तक पचास से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं और अभी भी यह क्रम जारी है। ये टीकाएँ संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, गद्य, पद्य सभी में है।

हम अभी ऊपर कह आए हैं कि बिहारी हिन्दी साहित्य में मुक्तक कविता के सिरमौर है। सिरमौर कहने का तात्पर्य यह है कि दोहे जैसे छोटे से छन्द में बिहारी ने जितनी गंभीरता, तल्लीनता में डूब कर विभिन्न हावों, भावों, अनुभावों तथा इंसानी मनोवृत्ति को व्यक्त किया है वह अकल्पनीय है। ऐसी मुक्तक रचना में बिहारी के समकक्ष कोई कवि नहीं ठहर सकता है। डॉ. रामचन्द्र शुक्ल मुक्तक रचना के लिए एक अनिवार्य शर्त बतलाते है कि "जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।"[31] और बिहारी इन उम्मीदों पर खरे उतरते हैं। बिहारी एक शृंगारी कवि है और बिहारी के काव्य में शृंगार रस का प्राधान्य है। इसमें भी दो प्रधान–गुणों की प्रमुखता

---

[30] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 175
[31] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 175

है–भाव की गंभीरता तथा वर्णन की संक्षिप्तता–ये ऐसे गुण हैं जिसके बल पर बिहारी ने दोहे जैसे छोटे से छंद में विपुल भावों को समाहित कर लिया है। अर्थात् गागर में सागर भर लिया है–

कहत नटत खिजत, रीझत मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत है नैनन ही सौं बात।।

यह दोहा अपने छोटे से कलेवर में कितने हाव–भाव को समेटे हुए है, दर्शनीय है।

बिहारी मूलतः शृंगारी कवि है। इन्होंने शृंगार के दोनों ही पक्षों संयोग और वियोग का अच्छा चित्रण किया है। किन्तु फिर भी बिहारी को जितनी सफलता संयोग पक्ष में मिली है उतनी सफलता विप्रलंभ शृंगार में नहीं। विप्रलंभ शृंगार में बिहारी नायिका के विरह का वर्णन करते समय औचित्य की सीमा को अतिक्रान्त कर जाते है विरह वर्णन में वे अपनी सारी शक्ति ऊहात्मक उक्तियों में लगा देते हैं, जहाँ भावों की प्रेषणीयता के स्थान पर हास्यास्पदता आ जाती है।

बिहारी न केवल सामन्त काल की सन्तान थे, बल्कि उनका पालन–पोषण और जीवन–यापन सामन्तशाही की भरपूर छत्रछाया में हुआ था। काव्य–कला की दृष्टि से उनके अधिकांश उत्कृष्ट दोहे तत्कालीन सामन्तों एवं सामन्तशाही के पोषक कुलीन नागरिकों की उस पुरूष मनोवृत्ति को गुदगुदाने भर के लिए है जो स्त्री को केवल युवा भोग्य शरीर कामिनी के रूप में ही देखना चाहता था। लेकिन बिहारी जिस रूप में अप्रतिम है वह है काव्य–कर्म में शब्द के चुनाव और प्रयोग के प्रति उनका गंभीर उत्तरदायित्व।

बिहारी ने अपने दोहों में तत्कालीन नागर संस्कृति का बखूबी चित्रण किया है। बिहारी को गाँव की मैली, काली स्त्रियाँ पसन्द नही थी। तभी तो उन्होंने अपने दोहों में रसों के राजा शृंगार को जो प्रमुखता दी है वैसे ही स्त्रियों में उन्होंने गोरी, नागर संस्कृति में पली–बढ़ी स्त्री को प्रमुखता दी। इसीलिए उसकी नायिका पूर्णिमा के चांद की तरह उज्ज्वल है, गुलाब के फूल से होंठ पान की ललाई में लाल किये हुए रहती है।

बिहारी स्वभावतः शृंगारी कवि के रूप में ही विख्यात है, किन्तु मूलतः शृंगारी होते हुए भी बिहारी भक्ति भावना से सर्वथा शून्य नहीं थे। उनके अनेक दोहे बड़े मोहक भक्ति–भाव से सिक्त हैं। इनके दोहों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप उपलब्ध है। ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने तो बिहारी के काव्य में अंकित भक्ति–भावना को देख, उन्हें सूर की कोटि का भक्त कवि तक कहा है। बिहारी ने श्रीकृष्ण से संबन्धित शृंगार लीला के अन्तर्गत

चीरहरण, रासलीला तथा भ्रमरगीत का अंकन अपने काव्य में किया है। इसीलिए नवधा भक्ति में से माधुर्य को ही ग्रहण किया है। निर्गुण ब्रह्म का स्मरण करते हुए बिहारी कबीर की भांति उपदेश देने लगते हैं किन्तु उन्होंने निर्गुण भक्ति के सभी तत्वों को ग्रहण नहीं किया है– ईश्वर के ऐश्वर्यमय रूप का ही वर्णन किया है। "बिहारी के दोहों में कहीं कोमल भक्ति–भावना के दर्शन होते हैं तो कहीं वे कबीर की भांति उपदेशक बन बैठते हैं, ऐसे स्थलों पर वे अत्यधिक जागरूक रहे हैं। उस घोर विलास के युग में भी आत्मचित्त के कतिपय क्षणों में बिहारी ने पूरी ईमानदारी से परमात्मा का स्मरण किया है।"[32]

रीतिकालीन सामन्तीय विलासपूर्ण ऐन्द्रिक वातावरण से ऊबकर जब इन कवियों की बुद्धि भक्ति के क्षेत्र में विचरण करती थी तब भी भक्ति से सराबोर इनकी रचनाओं में (राधा–कृष्ण को आलम्बन बनाकर) एन्द्रिक मानसिकता का ही परिचय मिलता है। कहना न होगा कि इस युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में बिहारी का स्थान अप्रतिम है। अन्य राज्याश्रित कवियों की अपेक्षा वे मानसिक दृष्टि से अधिक स्वतन्त्र कवि हैं। अतः युग की प्रवृत्तियों का जितना सूक्ष्म, तलस्पर्शी और यथार्थ चित्रण उनकी सतसई में मिलेगा उतना उस युग के अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं दिखाई देगा।

आचार्य कर्म के समान ही कविकर्म की दृष्टि से भी रीतिकाल के अन्तर्गत भिखारीदास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य में रीतिकाल को अलंकृत काल नाम से अभिहित किया है और उसको भी इन्होंने दो भागों में विभक्त किया– पूर्वालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को माना है और उत्तरालंकृत काल का सबसे बड़ा आचार्य भिखारीदास को स्वीकार किया है।

भिखारीदास प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्रयोंगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ये 1734 से 1750 ई. तक प्रतापगढ़ के अधिपति श्री पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रहे। इन्होंने कुल सात ग्रन्थों का प्रणयन क्रिया– 'रस सारांश', 'काव्य निर्णय', 'शृंगार निर्णय', 'छदार्णव पिंगल', 'शब्द नाम प्रकाश', 'विष्णुपुराण', 'भाषा' (दोहा–चौपाई में) और 'शतरंज शतिका'।

'रस सारांश' (1742ई.) और 'शृंगारनिर्णय' (1750ई.) मूलत रस तथा नायक–नायिका भेद विषयक ग्रन्थ है और 'काव्य निर्णय' (1746) विविधांग निरूपक ग्रन्थ है। 'रससारांश' में सभी रसों का विवेचन हैं। शृंगार रस का वर्णन अत्यंत विस्तृत है, उसमें नायिकाओं के हावों–भावों का भी विस्तृत वर्णन

---

[32] रीतिकालीन कविता में भक्ति तत्व, ऊषा पुरी, पृ. 196

है। इसमें अन्य रसों का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। 'शृंगार निर्णय' भी इनका रस से संबंधित ग्रन्थ है, किन्तु इसमें 'रससारांश' के समान रस–निष्पत्ति' सम्बन्धी गंभीर प्रश्नों के नहीं लिया गया है और न ही इनमें शृंगारेत्तर रसों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य शृंगार की विस्तृत विषय–सामग्री प्रस्तुत करना है। किन्तु हिन्दी साहित्य में भिखारीदास को जो प्रसिद्धि मिली है और साथ ही साथ आचार्यत्व की श्रेणी में स्थापित किया है उसका कारण इनका ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' है। दास ने इसका निर्माण मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और जयदेव के 'चन्द्रालोक' के आधार पर किया है और अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्य कवियों केशवदास, चिन्तामणि, सुरति मिश्र, श्रीपति, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि से भी सामग्री संकलित की है। इस ग्रन्थ में कवि ने कुछ मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं जिसे हिन्दी साहित्य में थोड़े मतभेदों के साथ स्वीकार किया है। "अलंकारों के वर्गीकरण और तुक–निर्णय को दास के नितांत मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है और ब्रजभाषा के स्वरूप को पहली बार व्यापक पृष्ठभूमि में स्पष्ट किया है, जैसा किसी प्राचीन लेखक ने नहीं किया।"[33]

दास का 'छंदार्णव पिंगल' (1742ई.) छन्द सम्बन्धी विस्तृत ग्रन्थ है। इनमें 15 तरंगें हैं। भिखारीदास का यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य के छन्द शास्त्रीय ग्रंथों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके साथ ही दास ने 'शब्द नाम प्रकाश' नामक शब्द कोश का भी प्रणयन किया।

भिखारीदास ने केवल साहित्यिक ग्रन्थों का ही निर्माण नहीं किया अपितु खेल–ज्ञान के लिए 'शतरंज–शतिका का भी निर्माण किया है। इसमें शतरंज खेलने के नियम–कायदों का विस्तृत उल्लेख है। यह तत्कालीन सामन्तों तथा राजाओं के शौक तथा मनोरंजन के लिए लिखा गया है। क्योंकि राजा और सामन्त राजकार्य तथा प्रशासनिक कार्यों से अतिरिक्त समय निकाल कर मनोरंजन के लिए शतरंज आदि खेल खेलते थे। अतः यह तत्कालीन परिवेश की परिस्थितियों का फल है। दास ने 'विष्णु पुराण' नामक संस्कृत से अनूदित ग्रंथ भी लिखा है।

भिखारीदास के काव्य क्षेत्र का मुख्य विषय शृंगार ही है। उन्होंने प्रमुख रूप से इसी का वर्णन क्रिया है। लेकिन नीति संबंधी फुटकर उक्तियाँ भी इनके ग्रंथों में मिल जाती है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में पद्‌माकार ऐसे कवि हैं जिनके व्यक्तित्व में वीर काव्य और रीतिकाव्य दोनों ही परम्पराओं का सम्मिलन हुआ

---

[33] रीति काव्य–संग्रह, जगदीश गुप्त, पृ. 84

है। यही नहीं इस सरिता में भक्ति और वैराग्य की धारा का भी संगम हुआ है। इस प्रकार पद्माकार उत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इनके प्रमुख ग्रंथ हैं– 'हिम्मतबहादुर विरुदावली', 'जगद्विनोद', 'प्रबोध–पचासा', 'पद्माभरण', 'हितोपदेश भाषा' और 'गंगा लहरी'। कृतियों को देखने मात्र से कवि की बहुमुखी प्रतिभा और समृद्ध काव्य शक्ति का अनुमान सहज ही हो जाता है। अपने समय के कवियों में पद्माकर ने वास्तव में सर्वोच्च ख्याति अर्जित की।

पद्माकार कृत वृहद ग्रंथ 'जगद्विनोद' शृंगार रस से सम्बन्धित है जिसकी रचना जयपुर नरेश जगतसिंह के लिए की गयी। यह कवित्व की शक्ति से ओत–प्रोत तथा पद्माकर की ख्याति का प्रमुख आधार ग्रंथ है। नायिका भेद भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर किया गया है। पद्माकर का दूसरा ग्रंथ आलंकारिक है– 'पद्माभरण' इसमें अर्थालंकारों की बहुलता है। 'चन्द्रालोक' और 'भाषाभूषण' के आधार पर एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दिये गये। परन्तु कहीं–कहीं उदाहरण के लिए दोहे अलग से भी लिखे गये हैं। इनमें कहीं–कहीं गद्य का प्रयोग भी किया गया है।

पद्माकार भी कवि देव की तरह कई राजाओं के आश्रय में रहे। गोसाईं अनुपगिरि (हिम्मत बहादुर) के लिए 'हिम्मत–बहादुर विरुदावली' की रचना की। जिसमें उनके शौर्य का अतिशोयोक्ति पूर्ण वर्णन किया। पद्माकर की काव्यरचना बहुत ही सरस है। "पदमाकर के काव्य की दो विशेषताएँ सर्वोपरि है– एक दृश्ययोजना और दूसरी शब्द योजना। इनकी शब्दावली दृश्य को सजीव रूप में प्रस्तुत करती है और उनकी दृश्यावली भाव को सृष्टि करने वाली है।"[34]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कह सकते हैं कि– "रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी।"[35]

यद्यपि रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन उत्तरोत्तर हो ही रहा था तथापि इसके समान्तर काल में एक ऐसी धारा भी रही थी जिसे स्वच्छन्द अथवा रीतिमुक्त काव्य धारा कहते है। इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए, जिन्होने रीति के बन्धन से मुक्त होकर साहित्य सृष्टि की। इन कवियों ने न तो केशव चिन्तामणि, देव, भिखारीदास की तरह कोई लक्षण ग्रंथों की रचना की और न ही बिहारी की तरह रीतिबद्ध रचना लिखी। ये कवि राज्याश्रित रहते

---

[34] हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, लेखक भगीरथ मिश्र, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 310
[35] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 214

हुए भी किसी बन्धन को स्वीकार नहीं किया। अपने अन्तःस्थल में जो भावनाएं थी उन्हे इन कवियों ने बड़ी ही शिद्दत के साथ व्यक्त किया है। स्वछंद धारा के कवि अनुभूति की गहराइयों में डूबकर काव्य सृजन करते थे। वे बौद्धिकता को उतना महत्व नहीं देते थे जितना अनुभूति को –

"रीझि सुजान सची पटरानी बनी बुद्धि बावरी हे करि दासी।"

रीतिमुक्त काव्य भावनाओं का ज्वार है न कि बौद्धिकता का, इसलिए आन्तरिकता इसका सर्वोपरि गुण है। ये कवि सहज भाव से अपनी अन्तर्वेदना तथा संवेदना को व्यक्त कर देते थे। जिसके फलस्वरुप इनकी शैली अलंकारो के अनावश्यक बोझ से आक्रान्त नहीं हुई है तथा इनकी भाषा भी परिमार्जित है। ये कवि प्रशंसा के पात्र है क्योंकि इनका काव्य रीतिकाल की रुग्ण शृंगारिकता तथा अतिशय अलंकरण की प्रवृति से अछुता है। इनकी रचनाओं के मूल में स्वान्त सुखाय की प्रेरणा कम कर रही है। इनके काव्य में लोक संग्रह तथा लोक संस्कृति की परिपुष्ट भावनाएं है।

रीतिमुक्त काव्य धारा के प्रमुख कर्ताओं में घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है।

रसखान के पश्चात् आलम ने रीतिमुक्त काव्यधारा को आगे बढ़ाया है। ये औरंगजेब के बेटे मुअज्जम के राज्याश्रय में काव्य–कर्म करते थे। यही मुअज्जम आगे चलकर बहादुर शाह के नाम से मुगल साम्राज्य की गद्दी पर बैठे। आलम ने 'आलम केलि' नामक रचना का प्रणयन किया था। इनका रचनाकाल 1683 ई. में 1703 ई. के मध्य स्थिर होता है। रीतिमुक्त काव्य धारा के कवि 'प्रेम की पीर' के कवि कहे जाते है। न केवल घनानंद बल्कि आलम भी अपनी रचनाओं में अन्तर्वेदना को अभिव्यक्त करते है। पारिवारिक और उन्मुक्त दोनो प्रकार का प्रेम आलम के काव्यों में मिलता है। "कुछ पद्यों में प्रेमभाव का स्वतन्त्र और उन्मुक्त रूप से वर्णन है। ऐसे स्थलों पर कवि प्रायः भावात्मक है। जहां इसकी काव्य प्रवृति अन्तर्मुखी होकर विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन से हट गई है, वहां प्रेमभावना के मादक प्रभाव आदि का स्वच्छंद वर्णन हुआ है।"[36]

आलम का प्रेम अभिलाषा प्रधान है। प्रिय को प्राप्त कर लेने पर भी तृप्ति नही होती। प्रियजन निकट होता है तो इसके दूर चले जान का डर सताता रहता है। फलस्वरुप इसका प्रत्येक क्षण अन्तर्द्वद्व से अभिभूत रहता है। आलम का भावात्मक पक्ष के साथ–साथ कलात्मक पक्ष भी काफी मजबूत है। रामचन्द्र

---

[36] घनानंद और रीतिकाव्य की स्वच्छन्द काव्य धारा – गौरा पृ. 259

शुक्ल कहते है "उत्प्रेक्षाएं भी इन्होने बड़ी अनुठी और बहुत अधिक कही है। शब्द वैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगार रस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियां इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते है। यह तन्मयता सच्ची उमंग में संभव है।"[37]

रीतिमुक्त धारा के कवियों में सर्वोकृष्ट कवि के रूप में नाम लिया जाय तो घनानंद का नाम सर्वप्रथम आता है। जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी साक्षात रस मूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभ के रूप में स्वीकार करते है। जिस प्रकार तुलसीदास रामचन्द्र शुक्ल के प्रिय महाकवि है, वैसे पूरे रीतिकाल में घनानंद ही उन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि दिखाई देते है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में घनानंद की प्रस्तुति बड़े ही मनोयोग से की है और घनानंद इसके हकदार भी हैं।

इनके ग्रंथ है– 'सुजानसागर', 'विरहलीला', कोकसागर, 'रसकेलिवल्ली', 'कृपाकंद', 'इश्कलता' आदि। इसके अतिरिक्त इनके फुटकल संग्रह भी काफी संख्या में प्राप्त हुए है जो कवित्त–सवैयों में उद्धृत है। घनानंद का प्रेम जो इनकी रचनाओं में व्यक्त हुआ है वह लौकिक, भौतिक धरातल से उपजा हुआ है लेकिन इसकी परिणति आध्यात्मिक धरातल पर जाकर होती है। लौकिक प्रिया सुजान का प्रेम अलौकिक सुजान (श्री कृष्ण) के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए इनकी रचनाओं में आध्यात्मिकता तथा भक्ति की छाया झलकती है। इसलिए रामचन्द्र शुक्ल भी इस सुजान शब्द को दो अर्थों में लेते है – शृंगार में नायक के लिए और भक्तिभाव में भगवान कृष्ण के लिए। घनानंद का काव्य संयोग–वियोग का मिला जुला रूप है। क्योंकि इनका काव्य अभिलाषा प्रधान है। ये प्रिय–मिलन से अघाते नही है, इन्हे तृप्ति नहीं मिलती। इनके काव्य के संयोग पक्ष को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह विरह की आग में दग्ध है। फिर भी इन्होने विप्रलंभ शृंगार को ही अपने काव्यक्षेत्र का विषय बनाया है। रामचन्द्र शुक्ल लिखते है "ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि है। 'प्रेम की पीर' ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"[38] इन्होने प्रेम को सर्वोपरि प्रधानता दी है। वह जिस प्रकार वियोग में तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता जाता है, उसी प्रकार संयोग में भी मंद नहीं पड़ता। इनके शृंगार चित्रण में स्थूलता, ऐन्द्रिकता, स्रेणता के

---

[37] हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ. 229
[38] हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 233

दर्शन नहीं होते। घनानंद के विरह वर्णन में स्वाभाविकता का आभास होता है न कि कृत्रिमता का। वह भोगा हुआ यथार्थ है। रीतिबद्ध कवियों की तरह सुनी सुनाई अथवा उधार ली हुई सामग्री से काव्य रचना नहीं की। रीतिबद्ध कवि धनप्राप्ति के लिए काव्य रचना करते थे जबकि रीतिमुक्त कवि अपनी ही मौज में आकर अनुभव आधारित काव्य रचना करते थे। जिससे उनके काव्यों में संयोग में ही नहीं वियोग में भी आन्तरिक भावों को अभिव्यक्ति मिली है। इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने घनानन्द की बिहारी आदि से तुलना करते हुए घनानंद की प्रशंसा में अपने हृदय के कपाट खोलकर रख दिये हैं– "घनानंद ने न तो बिहारी की तरह विरहताप को बहारी माप से मापा है, न बाहरी उछलकूद दिखाई दी है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है– बाहर से ये वियोग प्रशांत और गंभीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल–उछलकर भागना है। उनकी 'मौन मधि पुकार' है।"[39]

घनानन्द ने केवल प्रेम का चित्रण ही नहीं किया है अपितु उन्होंने प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में भी उसी उत्साह से विचरण किया है। किन्तु स्वच्छन्दमार्गी कवियों का स्वतंत्र चिन्तन जैसा भावक्षेत्र में मिलता है वैसा प्रकृति वर्णन में नहीं। प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र न तो इनके प्रेम व्यापारों का क्रीड़ा स्थल बना है न प्रेम का विषय ही। अयोध्या नरेश महाराज (द्विजदेव) की रचनाओं में इसका कुछ आभास अवश्य मिलता है। पर दूसरे स्वच्छन्दमार्गी लोग अन्तर्वर्ती प्रधान थे। घनानंद सबसे अधिक अन्तर्मुख हैं। फलतः इनका प्रकृति वर्णन संयोगी या वियोगी प्रेमी हृदय दशा की व्यंजना है प्रकृति सौन्दर्य की नहीं। प्रकृति उद्दीपन है स्वतंत्र आलम्बन नहीं।"[40]

घनानंद का महत्व इस बात में है कि इन्होंने अपने काल की परम्परा के विपरीत आत्मानुभूति को अपने काव्य का विषय बनाया। क्योंकि उस समय प्रतियोगितावश कवि एक–दूसरे से अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए बुद्धि–क्रीड़ा द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न कर लोगों को चमत्कृत करते थे। एक प्रकार से बौद्धिक कौशलता का प्रमाण प्रस्तुत करते थे। जिससे उनके काव्यों मे जीवन्तता नहीं रह जाती थी। जैसे किसी एक सुन्दर बुत का शृंगार कर विभिन्न आभूषण से अलंकृत कर शो–पीस रख दिया जाये तो उसके रसिक ग्राहक वाह–वाही तो खूब करेंगे किन्तु वह हमारे अन्तः स्थल को झकझोर नहीं सकता और न ही प्रभावित कर पायेगा। मगर इनका काव्य

---

[39] हिन्दी साहित्य का इतिहास,

[40] घनानंद और रीतिकाव्य की स्वच्छन्द काव्याधारा, गौरा, पृ. 300

आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। वह हमारे मर्मस्थल पर चोट करती है! घनानंद ने काव्य का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा है।

भारत सदैव से ही धर्म, दर्शन और अध्यात्म का देश रहा है। वैदिक युग में भी ऋषि–मुनियों के चिंतन का प्रमुख विषय अध्यात्म ही था। अस आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिंतन ने शनैः शनैः ज्ञान, कर्म, उपासना कम साथ भक्ति का स्वरूप ग्रहण किया और मध्ययुग में भक्ति–भाव इतना प्रबल हो गया कि ज्ञान और कर्म उससे आवृत हो गये। मध्ययुगीन कवियों ने अपनी भक्तिभावना को बड़े प्रबल रूप में व्यक्त किया। हिन्दी साहित्य में यह धारा आगे भी उत्तर मध्यकाल में भी प्रबंध रूप में प्रवाहित होती रही। प्रबंध और मुक्तक दोनो ही रूपों मे भक्तिकाव्य का निर्माण होता रहा।

चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित आगरा निवासी भगवत मुदित ने 'हितचरित्र', 'सेवक चरित्र', 'रसिक अनन्यमाल' तथा 'वृंदावन शतक' आदि भक्ति–भवित ग्रंथों का प्रणयन किया। भगवत मुदित ने अहेतुक भक्ति पर बल दिया है जिसके फलस्वरूप 'वृंदावनधाम' में निवास करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इनका रचनाकाल 1650 ई. से 1657 ई. माना गया है।

गोपाल भट्ट का जन्म 1643 ई. के आसपास हुआ था। इनको अपने गुरू महाप्रभु चैतन्य में अटूट श्रद्धा थी। इनके भक्तिमय पदों से ज्ञात होता है कि अपने गुरू चैतन्य महाप्रभु तथा आराध्य देव श्रकृष्ण में अभिन्नता स्थपित करने का प्रयत्न किया है।

रीतिकाल में (रचनाकाल 1683 ई.) तुलसीदास नाम के एक कवि हुए जिन्होंने श्रीमद्भागवद् का ब्रजभाषा में अनुवाद कर श्रीकृष्ण के ज्ञान व कर्म की लो को समाज में प्रज्ज्वलित किया। "मौलिक रचना न होते हुए भी इसका स्थान रीतिकाल में महत्वपूर्ण है क्योंकि उस युग में कृष्ण के कर्मयोगी व्यक्तित्व को मानव समाज लगभग विस्मृत कर चुका था। इस अनुवाद में कृष्ण के उस रूप को पुनः मुखरित करने का प्रयास किया है।"[41]

मनोहर राय का जन्म 1653 ई. में हुआ। इनक तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं–'सम्प्रदाय', 'श्री राधारमण रससागर' मथा 'क्षणदा गीति चिंतामणि'। इनके इष्टदेव युगल बिहारी थे। इन्होंने विभिन्न रूपों में राधा–कृष्ण की नानाविध लीलाओं का अंकन किया है। उनके भावों पर यत्र–तत्र बिहारी का प्रभाव दर्शनीय है। इसके साथ ही विभिन्न पर्वों का वर्णन करते हुए भी केंद्र में राधा–कृष्ण को ही रखा। अपने 'सम्प्रदाय बोधिनी' ग्रंथ में कवि ने चारों वैष्णव

---

[41] रीतिकाल कविता में भक्तितत्व, ऊषापुरी, पृ. 48

सम्प्रदायों की गुरू परंपरा का उल्लेख करते हुए वैष्णव भक्ति की विभिन्न परिपाटियों पर प्रकाश डाला है।

राम हरि का मूल नाम हरिराम था। उनका रचनाकाल 1663 ई. से 1679 ई. तक स्वीकृत है। उनकी छोटी–छोटी कई रचनाएं हैं – 'बुद्धिविलास', 'सतहंसी', 'बोधबावनी', 'रस पच्चीसी', 'लघु नामावली', 'प्रेमपत्री' और 'ध्यान रहसी'। हरि राम के ग्रंथों में भक्ति भावना के विविध रूप दर्शनीय हैं। कृष्ण के प्रति दास्य तथा माधुर्य दोनो ही भावों का वर्णन उपर्युक्त ग्रंथों में मिलता है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित श्री सहचरी सुख का जन्म 1635 ई. में हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय के गुटकों में उनके लिखे पद संकलित हैं। ये पद विभिन्न उत्सवों पर गाये जाते हैं। सहचरी सुख ने राधा को विशेष महत्व प्रदान किया है। 'सहचरी' पद की प्राप्ति श्री राधा के अनुग्रह तथा उसकी भक्ति के माध्यम से ही संभव है।

रीतिकाल में राम काव्यों की रचना भी की गई जिसमें इसके सच्चिदानंद स्वरूप का वर्णन किया है। बालकृष्णन 'बाल अली' (रचनाकाल 1666 ई. से 1692 ई.) का राम रसिकोपासना में विशिष्ट स्थान है। बाल अली विरचित ग्रंथ अग्रलिखत हैं – 'ध्यानमंजरी', 'नेह प्रकाश', 'सिद्धांततत्व दीपिका', 'दयाल मंजरी', 'ग्वाल पहेली', 'प्रेम पहेली', 'प्रेम परीक्षा'। राम रसिक उपासना में साकेत का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कृष्ण भक्ति में वृंदावन का। इसलिए इन्होंने साकेत का अत्यंत ऐश्वर्यपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है।

रीतिकाल में आगे चलकर राम काव्य में भी रीतिकालीन घोर शृंगारिक श्रेणता का समावेश हो गया। जिससे राम–सीता युगल उपासना में राधा–कृष्ण के शृंगारिक चित्रों की तरह अतिशय अश्लीलता का समावेश हो गया। राम व सीता के ऐन्द्रिक चित्र उकेरे जाने लगे – विशेषकर रसिक संदाय में।

रीतिकाल में संजों के द्वारा भी भक्ति के काव्यों का सृजन किया गया। संत रज्जब दादू संप्रदाय के प्रमुख कवियों में माने जाते हैं। इनका जन्म 1568 ई. में तथा मृत्यु 1689 ई. में हुई। संत संदाय से संबंधित होने के कारण उन्होंने ब्रह्म के विराट, सर्वव्यापक, ऐश्वर्यमय तथा प्रेमात्मक स्वरूप की कल्पना की है। जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत्व स्थापित करते हुए उन्होंने माना है कि दोनों में परस्पर अंश–अंशी संबंध विद्यमान हैं। मूल रूप में निर्गुण ब्रह्म की स्वीकृति होते हुए भी रज्जब के काव्य में सगुणात्मक ब्रह्म के कतिपय संकेत उपलब्ध हैं। कवि के सगुण ब्रह्म संबंधी पदों में 'राग' की स्थिति निरंतर वर्तमान रही है। रज्जब ने गुरू की महत्ता को सर्वोपरि माना है। वैसे भी संतों

ने प्रेम व गुरू के महत्व पर बल दिया है। "श्री रज्जब के अनेक पद ऐसे हैं जिनमें ज्ञान–सधना की शून्यता एवं प्रेमाभक्ति का आविर्भाव दृष्टिगत होता है। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में गुरू की महत्ता प्रकट करते हुए माना है कि गुरू ऋण से उऋण होना असंभव है। वह विविध सांसारिक आकर्षणों का उच्छेद कर भक्त के लिए भक्ति–मार्ग को अत्यंत सहज तथा गम्य रूप प्रदान करता है।"[42]

संतों में सुंदरदास प्रबुद्ध विद्वान थे। इनका जीवनकाल 1576 ई. से 1679 ई. तक माना जाता है। सुंदरदास ने शास्त्रों का अध्ययन–मनन किया था। इसलिए उनके काव्य में दार्शनिक चिंतन और भावनात्मक गहनता के एक साथ दर्शन होते हैं। उनके काव्यों में ब्रह्म का विशद् स्वरूपाख्यान प्राप्त है। उन्होंने ब्रह्मेत्तर समस्त जगत को मिथ्या माना है। संत कवियों का नारी के प्रति विशेष रोष रहा है। सुंदरदास ने भी इस परिपाटी का अनुगमन किया है। उसे मन भ्रमित करने का कारण माना गया है। उससे विमुख होकर ही मनुष्य ब्रह्मपरक मार्ग को अपना सकता है। कवि सुंदरदास ने भक्ति भावात्मक पदों की रचना ही नहीं की है अपितु भक्ति की विभिन्न कोटियों का दार्शनिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने पूर्व निश्चित 'नवधा भक्ति' को मान्यता प्रदान करते हुए उसकी व्याख्या की है।

दरिया साहब (बिहार) का जन्म 1634 ई. तथा परलोकगमन 1780 ई. में हुआ। इन्होंने अनेक ग्रंथों के प्रणयन कर संत काव्य को समृद्ध किया। दरिया साहब के काव्यों में ब्रह्म के विभिन्न रूपों का अंकन मिलता है। उन्होंने एक सूक्ष्म ब्रह्म की कल्पना की है जो निर्गुण और सगुण रूपात्मक ब्रह्म से परे है। सूक्ष्म ब्रह्म को उन्होंने 'सत्पुरूष' अथवा 'शब्द' कहकर पुकारा है। शब्द ही सर्वकर्ता है। वह ही ब्रह्माण्ड की रचना, पालन तथा संहार करने में समर्थ है।

इस प्रकार जसवंतसिंह के समकालीन साहित्यकारों ने रीति, रस, अलंकार आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना ही नहीं की बल्कि भक्ति, नीति, वीर आदि ग्रंथों का प्रणयन भी किया।

---

[42] रीतिकालीन कविता में भक्तितत्व, ऊषापुरी, पृ., 128

द्वितीय अध्याय

"जसवन्तसिंह का रचना–संसार"

(क) अनूदित रचनाएँ

(1) प्रबोध नाटक

(2) भगवद्गीता टीका भाषा

(3) भगवद्गीता भाषा दोहा

(4) गीता माहात्म्य

(ख) मौलिक रचनाएँ

(1) आनंदविलास

(2) अनुभवप्रकाश

(3) अपरोक्षसिद्धांत

(4) सिद्धांतबोध

(5) सिद्धांतसार

(6) छूटक दोहा

(7) दोवा

(8) भाषाभूषण

प्रबोध नाटक

जसवन्तसिंह ने गद्यात्मक तथा पद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ की है। 'प्रबोध नाटक' इनकी गद्यात्मक रचना है। इसमें दोहा तथा कवित्त के रूप में पद्य रूप भी कहीं–कहीं परिलक्षित हो जाता है लेकिन गद्य का अधिक प्रयोग किया है। पद्य के रूप में 'प्रबोध नाटक' में कुल 17 छन्द हैं जिसमें 2 कवित्त तथा 15 दोहे है। शेष गद्य ही गद्य है। जसवन्तसिंह ने संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद कर 'प्रबोध नाटक' की रचना की। 'प्रबोध नाटक' की भाषा ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली है। यह मध्यकाल के तत्कालीन साहित्य की भाषा का नमूना है।

'प्रबोध नाटक' तत्व ज्ञान–विषयक आध्यात्मिक ग्रंथ है। जिसमें जसवन्तसिंह ने नाटक शैली का प्रयोग करते हुए काम, क्रोध, अहंकार आदि मनोविकारों तथा विवेक, धीरज तथा श्रद्धा आदि सद्वृत्तियों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है और इनके माध्यम से यह बोध कराया है कि मनुष्य की बुद्धि इन मनोविकारों के कारण दूषित हो जाती है। कलियुग में मानव की सद्वृत्तियों (श्रद्धा, धीरज, वैराग्य) पर मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि विकार अपना प्रभुत्व कायम कर लेते हैं जिससे समाज में लूट, चोरी, आतंक का साया तथा भय का वातावरण उपस्थित हो जाता है। इसमें विवेक को सद्वृत्तियों के राजा के रूप में चित्रित किया गया है। राजा विवेक अपने सभी योद्धाओं को इकट्ठा करता है जिसमें वस्तु विचार, संतोष, धीरज आदि प्रमुख है। इन्हें साथ लेकर राजा विवेक महामोह से युद्ध करने जाता है। इस युद्ध में महामोह के काम, क्रोध, लोभ आदि धराशायी होते हैं तथा विवेक की विजय होती है। जसवन्तसिंह ने संवाद योजना द्वारा उक्त मनोविकारों के साथ राजा विवेक के युद्ध का वर्णन इनके अचूक आध्यात्मिक अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग करने पर इन्हें विजयी सिद्ध किया है। जसवन्तसिंह ने वस्तुविचार को न्याय वैशेसिक, धीरज को मीमांसा पातंजल और संतोष को वेदान्त सांख्य के रूप में चित्रित किया है। इन आध्यात्मिक शास्त्रों के बल पर अहंकार, क्रोध, भय, झूठ, आदि पर विजय दिखलाई है। (देखिये पृष्ठ 405)

'प्रबोध नाटक' का प्रारंभ संस्कृत नाटक शास्त्र की परम्परानुसार हुआ है। सर्वप्रथम सूत्रधार द्वारा मंगलाचरण के रूप में इस सांसारिक नश्वरता और जगत की मृगमरीची का बोध कराते हुए ज्ञान और विवेक के परम तत्व की उपासना पर बल दिया गया है। तभी आत्मचेतना जाग्रत होती है और मुक्ति

का उपाय सूझता है। संस्कृत नाटकों की भांति नट–नटी के माध्यम से प्रबोध नाटक की बात दिखाने की बात कही गयी है।

प्रस्तुत नाटक की विषय–वस्तु नाटकीयता का रूप लिए हुए है पर इसका उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टि से सद्विवेक को जाग्रत करना, मनोविकारों पर विजय प्राप्त करना और प्राणी मात्र को ईश्वर की भक्ति की ओर अग्रसर करना है। कामदेव और रति के वार्तालाप द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा विवेक के दरबार में यम, नियम, संयम आदि आठ मंत्री है जो उसे सद्धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होने देते। किन्तु मद, मान, मत्सर, दंभ, लोभ आदि कामदेव के सेवक उन्हें भगाकर अधर्म के मंत्री को नियुक्त कर देंगे।

इस नाटक में सांसारिक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण बात कही गयी है जो व्यक्ति पुत्र–मोह ग्रस्त रहता है, ममता से बंधा रहता है उससे निवृत्ति प्राप्त करने के लिए ममता का त्याग करना पड़ता है जिसका एक ही उपाय है इस संसार की नश्वरता को जानना, जगत को अनित्य मानना। तभी इस पारिवारिक ममता से निजात मिलेगी। इसी से प्राणी निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर होता है। निवृत्ति से ही सम, दम, संतोष, विवेक आदि आते हैं। तभी सांसारिक प्राणी (पुरुष) उपनिषद् (देवी) से साक्षात्कार कर सकता है। नाटककार ने उपनिषद् को देवी के रूप में प्रस्तुंत किया है। जब विवेक सहित सभी सात्विक वृत्तियां पुरूष में समा जाती है तब वह ईश्वर के समकक्ष हो जाता है। "उपनिषद् बोली हौं यौं ही है। औरौ सुनौ ईश्वर तोतै न्यारो नाहीं। तुमहूँ ईस्वर तै न्यारै नाँही पै अग्यान करिकै न्यारे भये है।"[1] इसी प्रकार आस्तिकता की आज्ञा से प्रबोध भी पुरूष से मिल जाता है। प्रबोध के मिलने से पुरूष के मन का अंधकार चला जाता है।

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने 'प्रबोध नाटक' में सांसारिक प्राणी को इस नश्वर जगत का बोध कराकर काम, क्रोधादि को त्यागने का संदेश दिया है और वैराग्य वृत्ति, आस्तिकता व शास्त्र ज्ञान द्वारा परमतत्व ईश्वर की आराधना का संदेश दिया है।

---

[1] ज. ग्रं., प्रबोध नाटक, पृ. 110

भगवद्गीता टीका भाषा

जसवन्तसिंह ने अपनी भाषागत योग्यता को 'श्रीमदभागवद् गीता' पर टीका लिखकर जाहिर किया है। उन्होंने संस्कृत भाषा की गीता का गद्यानुवाद 18 अध्यायों में किया है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र सम्पादित 'जसवन्तसिंह ग्रंथावली' में 14 अध्याय तो पूर्ण है किन्तु 15, 16 अध्याय लुप्त हैं और 17 वाँ अपूर्ण है। इस प्रकार यह टीका खण्डित रूप में प्राप्त है। जो भी हो इस टीका भाषा में कवि जसवन्तसिंह की धार्मिक प्रवृत्ति और पाण्डित्य का पता तो चल ही जाता है। उनके इस भाष्य लेखक में शंकराचार्य के भाषा लेखन का प्रभाव झलकता है। इसमें पाण्डव–कौरव के महाभारत युद्ध से पहले की स्थिति का चित्रण किया गया है। जिसमें संजय अपनी दिव्य दृष्टि से धृतराष्ट्र को उन परिस्थितियों से अवगत कराते हैं। सवर्प्रथम धृतराष्ट्र यही प्रश्न करते हैं कि धर्म क्षेत्र को कुरूक्षेत्र बनाते हुए मेरे पुत्र और पाण्डू के पुत्र जो युद्ध की इच्छा के फलस्वरूप एकत्र हुए हैं वे अभी क्या कर रहे हैं ? तब संजय कहते हैं कि अर्जुन के कहने पर श्रीकृष्ण रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में जाते हैं जहाँ पर अर्जुन देखते हैं– "तब अर्जुन देख्यौ पितर है। पितामह हैं। आचारज है। मामू है।भाई है। पुत्र है। पौत्र है। ससूर है। सनेही है। इनकौं देखिके कह्यो।। यह तो सब मेरो ही कुटुम्ब है। हे कृष्ण युद्ध करिबै कौं आई ठाढो ऐसौ जु कुटुंब तिनको देखि मेरे गात सिरात हैं। अरू कंठ सोष होत है। कंप होत है। रोमांच होत है।"[2] इस प्रकार अर्जुन के हृदय में मोह जागृत होता है लेकिन श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह को दूर करने का प्रयत्न करते है। "हे अर्जुन यह मोह तौको कहां तै आई लाग्यौ जा समै न चाहिए ता समै आयौ यह नीच पुरुष होई तिनको आवै।"[3] द्वितीय अध्याय में अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए देह व आत्मा का ज्ञान प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार व्यक्ति पुराने वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही शरीर एक शरीर छोड़कर अन्य देह ग्रहण करता है। इसलिए तुम शस्त्र धारण कर उनसे युद्ध करो। इसी अध्याय में स्थित प्रज्ञ सांख्य, आत्म तत्व और निष्काम कर्म की प्रेरणा देते हैं।

जसवन्तसिंह ने गद्यानुवाद करते समय किसी दोहे का विस्तार से वर्णन किया है तो किसी दोहे को एक पंक्ति में अनुवाद कर दिया है। जसवन्तसिंह ने भगवान श्रीकृष्ण के जितने भी पर्यायवाची आए है उनकी कोई विशिष्ट

---

[2] भगवदगीता टीका भाषा, पृ. 196

[3] वही, पृ. 199

व्याख्या नहीं की है। मधुसूदन, केशव, जनार्दन आदि शब्दों के लिए केवल कृष्ण शब्द की ही प्रयोग किया है।

जसवन्तसिंह तृतीय अध्याय में सांख्य, योग, कर्मफ़ल और ज्ञान के विषय में विस्तार से सरल शब्दावली में वर्णन कर दिया है। "अर्जुन लोक विषै निष्ठा दोय भांति की है पहले कही तामै पहिलै सांख्य सबदै आत्म अनात्म विवैक कह्यौ अर्थात् तत्व पदार्थ को सोधन ताकौ जे समुझे है सिनकुं ज्ञानजोग करिकै और या ऊपर जो जोगी है जोग को प्रवृते है जोग कहे जीवात्मा परमात्मा की एकता तिन कौ कर्मजोग करिके कर्मजाग कहै जीवात्मा परमात्मा कौ एक करणौ सोई कर्म तातैं कर्मजोग।"[4] इस प्रकार जसवन्तसिंह ने गूढ़ रहस्यों के अपनी सरल शब्दावली में व्यक्त कर दिया है।

छठे अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि मन जो अति चंचल है जो इन्द्रियों को भी चंचल कर देता है उसको कैसे बांधा जाए, स्थिर कैसे किया जाए? तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह निरंतर अभ्यास तथा वैराग्य धारण करने से होता है।

जसवन्तसिंह की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जब वे अनुवाद कार्य कर रहे होते हैं तब एक बात ध्यान रखते है कि अगर समान भाव बोध और अर्थ की व्याप्ति एक साथ दो–तीन श्लोकों में हो रही हो तो उसकी अलग–अलग टीका करने की कोशिश नहीं की है अपितु एक साथ ही आशय स्पष्ट कर दिया गया है। यह स्थिति अध्याय 8, 10, 12 और 13 वें में देखने को मिलती है। इसके साथ ही मूल पारिभाषिक शब्दों को टीकाकार ने भाषा में प्रस्तुत करते समय ज्यों का त्यों रखा है। इससे अभिप्रेत भाव को समझने में सुविधा रही है।

चौहदवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सत्, रज् और तम के विषय में विस्तार में उपदेश दिया है। इसमें सत्, रज् और तम की विशेषताओं तथा इनके प्रभावों का वर्णन किया गया है– "सत्व गुन जो है सो निर्मल है प्रकासक है दुखरहित है तातै सुखसंग करिकै अरू ग्याँन संग करिकै बाँधै है। रजोगुण है जो रागात्म है तातै तृष्णागते उपज्यो है कर्मसंग करिकै बाँधै है। तमोगुण है सु अग्याँन तै उपजे है तातै सबको मोह करै है अर्जुन सो तम प्रमाद आलस अरू निद्रा इन करिकै बाँधै है।"[5]

आलोच्य टीका भाषा में जसवन्तसिंह की सूक्ष्म अध्ययनशीलता दृष्टव्य है। भाव और विचारों का ऐसा तारतम्य अन्य भाषाओं में की गई टीकाओं में

---

[4] वही, पृ. 211

[5] भगवदगीता टीका भाषा, पृ. 173

प्रायः नहीं देखा जाता है। अतः संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं रखने वाले पाठक भी इस टीका के सभी अध्यायों के गुण–गंभीर ज्ञान को हृदयंगम कर सकते है।

श्रीमद भागवद् गीता भाषा दोहा

जसवन्तसिंह ने बुद्धि–कौशल का उपयोग संस्कृत ग्रंथ 'श्रीमदभगवद् गीता' पर भाषा के रूप में टीका लिख कर किया तो दूसरी तरफ 'श्रीमदभगवद् गीता' का दोहा छन्द में पद्य रचना का अनुवाद प्रस्तुत किया। जसवन्तसिंह की दार्शनिकता का ज्ञान हमें उनकी दर्शन संबंधी रचनाओं से होता है तो धार्मिक प्रवृत्ति का ज्ञान इन टीका तथा अनूदित रचनाओं से होता है। यह जसवन्तसिंह की सद्‌आशयता ही है कि इन्होंने इन रचनाओं की भाषा के रूप में जनभाषा राजस्थानी तथा ब्रज का अवलम्ब किया। जिससे कि सामान्य पाठक भी इस धार्मिक ग्रंथ में उद्‌धृत ज्ञान का रसास्वादन कर सके। गीता के प्रथम अध्याय से अष्टादश अध्याय तक प्रत्येक श्लोक को दोहा शैली में अनूदित किया है। दोहा जैसे लघु छन्द में जसवन्तसिंह ने गीता के सामासिक श्लोकों के भावों को बड़े ही सशक्त ढंग से सरल शब्दावली में व्यक्त कर दिया है। गीता का यह काव्यमय अनुवाद सरल, सहज, सुबोध, रोचक एवं अपने आप में परिपूर्ण है। इन दोहों के पढ़ते हुए गीता के मूल श्लोक का भाव बिम्ब हमारी आँखों के आगे जीवन्त हो उठता है।

प्रथम अध्याय में कौरव–पाण्डव के युद्ध के समय अर्जुन को अपने प्रियजनों के प्रति मोह उत्पन्न होता है और इस बात को लेकर वह विषाद में डूब जाता है कि उसे अपने प्रियजनों का ही संहार करना पड़ेगा। इसमें अर्जुन के विषाद का वर्णन किया गया है। सांख्य योग से सम्बंधित द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह जनित भ्रम का निवारण करने का प्रयत्न करते है। वे कहते हैं–

"जो जानत यहि आतमा अज अबिनासी नित।
सो नर मारै कौन को ताहि हनै को मित।।
जैसे पटु जीरन तजै परिहरत नर जु नवीन।
देह पुरातन जीव तज नई गहत परबीन।।"[6]

जसवन्तसिंह अनूदित 'श्रीमदभगवद् गीता भाषा दोहा' के तृतीय अध्याय में कर्म का उपेदश दिया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए

---

[6] भगवदगीता भाषा दोहा, पृ. 283

कहते हैं कि कर्म के बिना इस संसार में कोई जीव–जन्तु क्षण भर भी नहीं रह सकते क्योंकि कर्म जीव के लिए तथा जीवन बिताने के लिए आवश्यक है। इसी के द्वारा जीव–जन्तु अपने को क्रियाशील बनाए रह सकते हैं। अगर विवश होकर कर्म किया जाता है तो वह माया के जाल में फँस जाता है।

योग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो संन्यासी, योगी फल की इच्छा न करते हुए निष्काम कर्म करता जाता है वह सदा सुखी रहता है तथा बिना योग के संन्यासी नहीं हो सकता तथा जो संन्यासी होगा वही योगी भी होगा। योग भी तब पूर्ण होगा जब –

"विषयन सौं अरू कर्म सौ होई प्रति जब दूरी।
सम संकल्पन कौं तजै तर्ज जोग रहै तब पूरि।।"[7]

पन्द्रहवां अध्याय पुरूषोत्तम योग को स्पष्ट करता है। इसमें टीकाकार ने काम, मोह आदि के त्यागने की सलाह देते हुए अध्याय में विश्वास करने की सलाह दी है। श्रीकृष्ण अपने पुरुषोत्तम नाम को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

"क्षर अरू अक्षर परैं हौ सम तैं हौं अधिकाऊ।
या तै वेद रू लोक में पुरूषोत्तम मो नाउ।।"[8]

टीकाकार ने दोहे जैसे लघु कलेवर में संस्कृत के विस्तृत छन्दों को समेट लिया है। यह उनकी उपलब्धि है। सोलहवें अध्याय में देव और असुर प्रवृत्ति के लोगों की प्रकृति पर गहन विचार किया गया है जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

"देव असुर इह लोक में मानस की है सिष्ट।
दैव सुबर्नन कर दियने आसुर सुनौ निकृष्ट।।
धर्म अधर्म न जानहि जे नर आसुर होई।
सौच अचार न सत्य कछु भेद न जानत कोई।।"[9]

इसी प्रकार सत्रहवें अध्याय में त्रिगुण कर्मयोग पर विचार व्यक्त हुआ हैं तो अठारवें अध्याय में मोक्ष–संन्यास पर विस्तार से अर्जुन को समझाया गया है। अन्त में टीकाकार ने अपनी तरफ से दोहा जोड़ दिया है जिससे अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं कि जसवन्तसिंह ने वाक् विलास के कारण गीता की टीका की है–

"कृष्ण जु अर्जुन सौ कही कारन बाक् विलास।
गीता की टीका करी यहि जसवंत प्रकास।।"[4]

---

[7] भगवदगीता भाषा दोहा, पृ. 295
[8] वही, पृ. 318
[9] व्ही, पृ., 319

इस तरह टीकाकार ने 'श्रीमद्भगवद् गीता' का भाषा में एवं दोहा शैली में अनुवाद करते समय मूल ग्रंथ के अर्थ–सौन्दर्य को सुरक्षित ही नहीं रखा है अपितु सामान्य भाषा जानने वाले एवं काव्य रसिकों दोनो की ही सन्तुष्टि का प्रयास किया है। वे इनका अध्ययन मनन करते समय संस्कृत में लिखे मूल गीता का आस्वादन सहज रूप में कर लेते हैं।

गीता माहात्म्य

जसवन्तसिंह ने श्रीमद्भागवद् गीता की भाषा टीका और दोहा टीका लिखने के उपरान्त ग्रंथ के अन्त में श्रीमद्भागवद् गीता का 'गीता माहात्म्य' के रूप में इतिहास भी प्रस्तुत कर दिया है। "श्री रामाय नमः। अथ गीता माहात्म्य इतिहास कथा लिख्यते।।"[10] जिसे उन्होंने दोहा–चौपाई छन्दों में लिखा है। आलोच्य ग्रंथ में गीता के अठारह अध्यायों का महत्व प्रतिपादित करने हेतु प्रत्येक अध्याय में भिन्न–भिन्न बोध कथा प्रस्तुत की गयी है। 'पद्म पुराण' के उत्तर खण्ड में पुराणकार ने संस्कृत भाषा में गीता के समस्त अध्यायों की महत्ता स्पष्ट करने के लिए जो बोध कथाएं दी हैं उनका जसवन्तसिंह ने भावानुवाद बहुत ही सरल तथा बोधगम्य ब्रज और राजस्थानी भाषा में प्रस्तुत किया है जिसमें जसवन्तसिंह की विद्वता झलकती है। इन अध्यायों में कहीं–कहीं पंक्तियाँ गायब है, हो सकता है जो मूल ग्रंथ प्राप्त हुए है उनके पृष्ठ कटे–फटे अवस्था में हों जिसके कारण इन अध्यायों में उन अमूल्य पंक्तियों का 'जसवन्तसिंह ग्रंथावली' में समावेश नहीं हो सका और अध्यायों की लय, तारतम्यता आदि में विघ्न पड़ा है। फिर भी पढ़ने पर जसवन्तसिंह की भाषा के कारण तथा कथाओं के कारण इस बाधा का आभास कम ही हो पाता है।

ग्रंथ के आरंभ में जसवन्तसिंह ने सवर्प्रथम गुरू–गोविन्द को प्रणाम किया है और सन्तों की चरण धूली अपने सिर पर धारण की है। तत्पश्चात् वे कहते हैं कि मैं उस गीता की महिमा गाना चाहता हूँ जिसे सर्वप्रथम वेदव्यास ने लिखा और पद्म पुराणकार ने जगत् में प्रकट किया और जिसके कारण इस संसार के प्रत्येक प्राणी के मनोरथ की सिद्धि होती है।[11]

---

[10] गीता माहात्म्य, पृ. 331
[11] गीता माहात्म्य, पृ. 331

ग्रंथकार ने इस 'गीता माहात्म्य' में शिव–पार्वती की प्रश्नोत्तरी शैली के माध्यम से व्यक्त किया है। जिसमें शिव, लक्ष्मी और विष्णु भगवान के माध्यम से समस्त बोध कथा पार्वती को सुनाते हैं।

पार्वती शिव से प्रश्न करती है कि हे प्रभु। वैसे तो आप बहुत पवित्र हैं, सभी सांसारिक जीव आपका ही ध्यान करते है और आपकी दया से ही मुक्ति प्राप्त क़रते है। आपका वाहन बैल है, मृग छाल आपके परिधान है, शरीर पर भस्म लगाते हैं, मुण्डन की माला पहनते हैं, विषधर सर्प कंठ पर शोभा पाता है और विष तथा धतुरे का सेवन करते हैं। इन विपरीत लक्षणों के होते हुए भी आपका तन और मन पवित्र कैसे है? कृपया करके समझाइए। तब भगवान शिव इस रहस्य देवी पार्वती को गीता का ज्ञान प्रदान करते हैं–

"सो वह गीता ग्यान कहावै। मेरा हिरदा मांहि रहावै।
देह धरे सब करम करावै। गीता सुमारी परम पद पावै।।"[12]

भगवान शिव पार्वती को समझाते हैं कि बैकुण्ठ धाम में लक्ष्मी जी ने श्री नारायण से गीता माहात्म्य को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। फलतः श्री नारायण गीता के प्रत्येक अध्याय का श्रवण करने वाले प्राणी के कर्मो का उल्लेख करते है। प्रथम से अष्टादश अध्याय में भिन्न–भिन्न कथाएँ दी गई है और प्रत्येक अध्याय के श्रवण कर्ता को पापों से मुक्ति ही नहीं मिलती बल्कि उससे अलग–अलग प्रतिफल प्राप्त होते है। उन्हीं का विवेचन जसवन्तसिंह ने इस ग्रंथ में सारगर्भित शब्दावली में कर दिया है।

प्रथम अध्याय में विप्र, गणिका और सुवा (तोता) की कथा प्रस्तुत की गयी है। जिन्हें गीता के प्रथम अध्याय के पढ़ने अथवा सुनने से बुरे कर्मो के फल से मुक्ति और सीधे बैकुण्ठ धाम की प्राप्ति होती है। विप्र जो अपने बुरे कर्मो के फल से पुनर्जन्म में बैल के रूप में जन्म लेता है उसे गणिका गीता का प्रथम अध्याय पढ़कर सुनाती है जिससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार गणिका अपने पालतु तोते से गीता का प्रथम अध्याय प्रतिदिन सुनती है जिससे प्रभावित होकर वह वेश्याकर्म छोड़ देती है और तोते व गणिका को मुक्ति मिलती है–

"गणिका पुनि छोड़यो वह करमा। सैवे सद लिए सुरधर्मा।
गणिका विप्र मुक्त सब भये। चढि विमान वैकुण्ठहि भये।।"[13]

इसी प्रकार अन्य अध्यायों में भी स्त्री–पुरूषों की कथा दी गयी है जिन्हें गीता के अध्यायों का श्रवण व पठन करने के उपरान्त मुक्ति प्राप्त होती है।

---

[12] वही, पृ. 332
[13] गीता माहात्म्य, पृ. 334

उन अध्यायों में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि किसी व्यक्ति को पापाचारी, मद्य–पान ग्रस्त बताया है तो स्त्री को व्याभिचारिणी आदि के रूप में चित्रित किया है लेकिन अन्त में गीता के अध्यायों के श्रवण–पठन के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्ति करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीता की महिमा अपरम्पार है–

"पढ़ सुनै गीता चित लावै। फल असंखि होई वेद बतावै।
अछ्छरि देखि मुक्ति जिन लही। फल अनंतहू को कह सही।
महिमा कहत सैसहू थके। नर बुद्वि ही कहि नांहि सकै।।"[14]

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने प्रथम से अठारह अध्यायों में का पद्म पुराण को आद्योपान्त भावानुवाद कर गीता माहात्म्य को सामान्यजन हेतु प्रस्तुत कर दिया है, ताकि वे भी इससे फल प्राप्ति कर सके। भारतीय संस्कृति के इस आदर्श ग्रंथ के संदर्भ में तीन–तीन अलग–अलग प्रकार की टीकाएँ लिखकर सामान्य जन को गीता–अध्ययन मनन की प्रेरणा प्रदान की है।

आनंदविलास

जसवन्तसिंह कृत तत्वज्ञान से संबंधित रचना 'आनंदविलास' है। 'आनंद विलास' का एक और नाम 'आनंद विसर्ग' भी है। इसका संस्कृत भाषा में भाषांतर हुआ है। अनुवादित संस्कृत रचना में जसवन्तसिंह की प्रशस्ति होने से ज्ञात होता है कि यह उनके किसी दरबारी संस्कृत पण्डित का कर्तृत्व है। 'आनंदविलास' के उतरार्द्ध में इसका रचनाकाल दिया गया है जिसके आधार पर इसका रचना काल सन् 1667 ई॰ ठहरता है–

"संबत् सत्रह से बरस ता ऊपर चौबीस।
सुकल पख्य कार्तिक विषै दसमी सुत रजनीस।।"[15]

'आनंदविलास' का आरंभ मंगलाचरण से होता है जिसमें गणपति गजानन गणेश जी की वंदना की गयी है। इससे ज्ञात होता है कि महाराजा ने दर्शन सम्बंधी जो पाँच रचनाएँ की हैं उनमें 'आनंद विलास' सवर्प्रथम लिखी गयी है, क्योंकि मंगलाचरण इसी रचना में हैं। भगवान गणेश की स्तुति के पश्चात् विश्वरूप को प्रकाशित करने वाले परमानंद की वंदना की गयी है। यथा–

"एकदन्त गजबदन सु गवरीनंद
विघन हरत अति गनपति करत अनंद।

---

[14] वही, पृ. 336
[15] आनंदविलास, पृ. 134

अपनो इछया करि कियो बिस्व रूप परकास
बंदन परमानंद को जो जग को आधार।"[16]

'आनंदविलास' का आरंभ तत्कालीन प्रश्न–पृच्छा शैली में किया गया है। व्याससूत्र या ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर आदि गुरू शंकराचार्य गंगातट पर बैठै थे। जहाँ पर एक उदासीन पुरूष उनके निकट आता है, नमस्कार करके अपने घर–परिवार तथा गाँव के परित्याग के कारण पर प्रकाश डालता है। वह कहता है–

"मिथ्या जानि प्रपंच भयउ दुख दून।
विषय सुखन में दुख बहु सुख अति नून।।"[17]

उदासीन पुरूष आपनी व्यथा व्यक्त करते हुए कहता है कि स्त्री अपने रूप का प्रदर्शन कर मन को अधीन कर लेती है तथा धरम–अधरम, विवेक का कुछ उपाय नहीं रह जाता है। उसके वशीभूत रहकर मन, शरीर सब निर्बल हो जाते है। कुछ भी सोचने समझने की शक्ति समाप्त प्रायः हो गयी है। इसलिए आगन्तुक शंकर से अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए काम–क्रोधादि मनोविकारों को दुख की खान सिद्ध करता है।

जसवन्तसिंह ने जिस प्रकार 'प्रबोध नाटक' में ममता को दुख रूप माना है उसे वैराग्य धारण करने में प्रमुख बाधा घोषित किया है उसी प्रकार 'आनंदविलास' में भी ममता को दुख रूप माना है।

"ममता ही दुखरूप मोहिं यह भासई।"[18]

जसवन्तसिंह ने इस उदासीन पुरूष के माध्यम से संसार में जो दुख हैं उन्हें व्यक्त किया है, दुखों के कारणों पर प्रकाश डाला है। कवि उसके माध्यम से सांसारिक व्यक्ति को वैराग्य धारण करने के लिए प्रेरित करता है। संसार में वही व्यक्ति सुखी रहता है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि से अपने आपको दूर करता है। जो व्यक्ति इन विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है वही ईश्वर को प्राप्त करता है। इसी ईश्वर को प्राप्त करने, शान्ति प्राप्त करने के लिए वह उदासीन व्यक्ति शंकराचार्य के पास आता है तथा इन मनोविकारों के लक्षण तथा काम क्रोधादि से उत्पन्न कुविचारों और कुकर्मों के विषय में बतलाता है–

काम– "काम दुष्ट के ज्यों–ज्यों होत अधीन।

---

[16] वही, पृ. 115
[17] आनंदविलास, पृ. 115
[18] वही, पृ. 116

महा प्रबल इहिं त्यों–त्यों बहु दुख दीन।।

लोभ– लोभ सुमारग जान न काहू देत।

सदा कुमारग ही को है यह हेत।।"[19]

जसवन्तसिंह ने इन मनोविकारों के माध्यम से सांसारिक प्राणी को इनसे सचेत रहने के लिए इनके दुर्गुणों का भय दिखाया है क्योंकि इन मनोविकारों के जाल में फंसकर मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों की ओर ले जाती है, जिससे मनुष्य सांसारिक भवसागर में डूबता–उतरता रहता है, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इसी के साथ कवि ने आँख, कान, रसना आदि से उत्पन्न अवगुणों का भी बोध करा दिया है। मोहवश इन्द्रियाधीन मानव इनके जाल में फंसता जाता है। जिस प्रकार पतंगा दीपक की लो से लिपटकर भस्म हो जाता है तथा अपनी हानि–अहानि को नहीं देख पाता है उसी प्रकार मनुष्य इन्द्रियों के विषय में फंसकर अपनी हानि करवाता है और अन्ततः दुख को प्राप्त होता है। इसीलिए कवि ने इस संसार को मायामय, दुखमय, भोग विलास से परिपूर्ण बताया है और इस संसार को मिथ्या मानकर वैराग्य धारण करने की प्रेरणा प्रदान की है।

कवि ने शंकराचार्य के योग साधना, प्राणायाम आदि का उन्हीं के माध्यम से आलोच्य ग्रंथ में वर्णन कर दिया है। इस प्रकार योग साधना एवं प्राणायाम का विवेचन कर ईश्वर–उपासना के लिए जीव को प्रेरित किया है। इसी के साथ आदिगुरू शंकराचार्य के मत 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' की विवेचना भी कर दी है। शंकराचार्योवाच–

"बिस्वरूप ए सकल तूँ मिथ्या ही करि देखि।

एक आतमा सत्य है निहचै करिकै लेखि।।

× × ×

तद स्रवणादिक शिष्य गुरु मिथ्या सब ब्रह्माण्ड।।"[20]

मनुष्य को यह संसार मिथ्या अथवा भ्रमात्मक इसलिए दिखाई देता है क्योंकि वह अविद्या के वश में होता है। उसी के वशीभूत होकर संसार के छल प्रपंच में उलझकर रह जाता है। इससे बचने का एक ही उपाय है अविद्या के जाल से बाहर निकलना। इसके लिए सतगुरु से ज्ञान–अर्जन करना आवश्यक है।

ब्रह्म से साक्षात्कार करना है तो उसके लिए अहंकार को नष्ट करना होगा। जब जीव में अहंकर नहीं होगा तभी वह ब्रह्म को तथा उसके रूप को

---

[19] आनंदविलास, पृ. 117

[20] आनंदविलास, पृ. 122

जान सकेगा। अगर जीव अविद्या के वश में रहेगा तो उसमें स्वतः ही अहंकार का प्रादुर्भाव होगा। इसलिए सर्वप्रथम अविद्या को ही नष्ट करना चाहिए।

इस सच्चिदानंद ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जीव को अविद्या के आवरण को उतारकर, अहंकार को मन से बाहर निकालकर तथा चंचल इन्द्रियों को स्थिर रखना पड़ेगा तब कहीं जाकर ईश्वर से साक्षात्कार हो सकता है। जीव ने शंकराचार्य से ज्ञान प्राप्त कर उस स्थिति को प्राप्त कर लिया है। उसने अपने चंचल मन को स्थिरता प्रदान कर दी है। अब वह एक दौर से दूसरे दौरा नहीं जा पाता, क्योंकि जीव ने राग–द्वैष, मद, लोभ, मोह, माया आदि से स्वयं को दूर कर दिया है तभी तो वह कहता है–

"जाई कहाँ यह मन अबै ठौर दूसरों नाँहि।
जहाँ जाई तहँ आप ही रहै आप हि माँहि।।"[21]

जीव ने गुरू की कृपा से अहम् पर भी विजय प्राप्त कर ली है। अहं का त्याग ही जीव को परमानंद की अनुभूति करा सकता है। तब जीव स्वयं आनंद रूप हो जाता है। सर्वात्मवाद की मीमांसा करते हुए कवि कहता है जो व्यक्ति तुच्छ प्रकाश के वशीभूत होकर इधर–उधर देखता है तब उसे कलुषित वातावरण ही दिखाई देगा लेकिन जब उस पर महाप्रकाश की ज्योति पड़ती है, जब अहंकार का विनाश हो जाता है तब वह अपने भीतर अहंकार की जगह परब्रह्म के व्यापक रूप का आभास करता है और आन्तरिक साक्षात्कार का अनुभव कर अलौकिक आनंद की अनुभूति करने लगता है–

"अहंकार मोकों अबै भासत आहि अनुप।
अब जग सिगरौ मैं भयौ मैं ही आनंदरूप।।"[22]

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने दर्शन ज्ञान को 'आनंविलास' ग्रंथ में पूर्णतया प्रतिपादित किया है। वे आदिगुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद से गहरे प्रभावित हैं। तभी तो इस ग्रंथ में उन्हें ही पात्र रूप में उपस्थित कर दिया है तथा उन्हीं के माध्यम से सांसारिक प्राणियों को अध्यात्म ज्ञान प्रदान किया है।

अनुभवप्रकाश

जसवन्तसिंह ने दर्शन से सम्बंधित 'अनुभवप्रकाश' नामक लघु ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ को कवित–सवैया छन्द में रचना की गई है साथ ही ग्रंथ का समापन दोहे के साथ किया है। जिसमें कवि जसवन्तसिंह ने अत्यन्त सार

---

[21] वही, पृ. 132
[22] आनंदविलास, पृ. 132

गर्भित रूप से छोटे ग्रंथ में ही दार्शनिक मत पर विचार कर दिया है तथा इस ग्रंथ को पढ़ने, सुनने से ही इसका सार समझ में आ सकता है।

'अनुभवप्रकाश' ग्रंथ में गूरू–शिष्य के संवाद रूप में ईश्वर के माया, अविद्या आदि के स्वरूप पर प्रश्नोत्तरी के रूप में प्रकाश डाला गया है। इस लघु ग्रंथ में ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप का प्रतिपादन किया गया है। सवर्प्रथम शिष्य गुरू से ईश्वर के स्वरूप के विषय में जानना चाहता है। तब गुरू ने समाधान किया कि शुद्ध चेतन अथवा ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है। तब शिष्य ने माया के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया। गुरू माया के विषय में बतलाते हैं कि वह संसार में हर जगह व्याप्त है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से उत्तरोत्तर विकास द्वारा माया की उत्पत्ति हुई है अर्थात् वह पंचतत्वों में व्याप्त है। इस माया के कारण झूठ की प्रतीति होती है तथा यह माया वस्तु का जो वास्तविक रूप होता है वह न दिखाकर कोई दूसरा ही रूप दिखाती है। कबीर दास ने भी माया के विषय में कहा है कि– 'माया महा ठगिनी'। यह सुनकर शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि ऐसा क्यों होता है? तब गुरू प्रत्युतर देता है कि यह सब अखण्ड चिदानन्द ब्रह्म की इच्छा से ही घटित होता है–

"गुरु कहयो अैसे मानि चिदानंद सप्रुकास।
अैसौ जो अखण्ड ब्रह्म ताकी इछया जानिबी।"[23]

'अनुभवप्रकाश' में जसवन्तसिंह ने गुरू–शिष्य के मध्य इसी प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया है तथा ईश्वर, जीव, जगत आदि प्रश्नों का समाधान किया गया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने माया के दो भेद कर विद्या तथा अविद्या में बाँटा तथा विद्या की कल्याणकारी और अविद्या को अकल्याणकारी बताया था। उसी प्रकार जसवन्तसिंह अविद्या का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

"नाँहि याकै रूप कछु नाँहि कछु आकृति है
असत हू नाँहि यह नाँहि यह सत है।
नाँ काहू सौं उपजी न आप सौं भई है यह
अैसें कहैं वाहि वह कैसे ठहरत है।।"[24]

जसवन्तसिंह ने अपने इस लघु ग्रंथ में ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप का प्रतिपादन किया है, जिसके विषय में वे कहते हैं कि ऐसा शास्त्रों में भी

---

[23] अनुभवप्रकाश, पृ. 135
[24] वही, पृ. 136

कहा गया है। वे निर्गुण ईश्वर के विषय में कहते हैं कि वह स्थूल, सूक्ष्म, अविनाशी, नित्य, निर्बन्ध, निसीम है–

"एक अनेक सदा है समान है थूल है सूछम ग्रन्थ बतावै।
अबिनासी है नित्य प्रगट्ट छिप्यौ निरबंध निसीम है कैसे बंधावै।"[25]

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने दार्शनिक विचारों को अत्यन्त सूक्ष्म और सारगर्भित शब्दावली में अभिव्यंजित किया है। कवि ने वेद और उपनिषदों में निरूपित निराकर निरंजन ब्रह्म का स्वरूप अपने इस वेदान्त ग्रंथ में उपयुक्त ढंग से व्यंजित कर दिया है। इस प्रकार जसवन्तसिंह का निर्गुण ईश्वर तथा कबीरदास का निर्गुण ईश्वर बहुत कुछ एक जैसा भासित होता है।

अपरोक्षसिद्धांत

'अपरोक्षसिद्धांत' के आरंभ में ब्रह्म की वन्दना की गई है जिसे इस जगत का नियंता माना है, कारण और कार्य इसी की इच्छा से सम्पन्न होते है तथा यह सर्वव्यापक है–

"जाकी इच्छया तै भयो बिस्व सवै निरमान।
कारन अस कारज दोउ जातै भए प्रमान।।
करता है सब बिस्व को ताकौ करता नाँहि।
बंदन ऐसे ब्रह्म को व्यापकता जा माँहि।।"[26]

ब्रह्म की वंदना के पश्चात् शिष्य द्वारा गुरू की वंदना की गई है और गुरू–शिष्य के संवाद रूप में प्रश्नोत्तर शैली में कर्म, मोक्ष, ईश्वर, अविद्या आदि पर विचार किया गया है। शिष्य गुरू से इन सभी से सम्बंधित प्रश्नों का उत्तर विस्तार से चाहता है ताकि उसके मन का संशय मिट सके। आलोच्य ग्रंथ में कवि कर्मवाद, ईश्वरवाद, तद्जनित मोक्ष को प्रतिपादित करता है, ताकि मनुष्य को इस मिथ्या संसार में आवागमन से मुक्ति प्राप्त हो सके। इस ग्रंथ में आरंभ में गुरू अपने शिष्य को देह की उत्पत्ति/विकास के विषय में बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जब भले और बुरे दोनों ही प्रकार के कर्म समान होते हैं तब पुरुष देह का निर्माण होता है और जो मनुष्य इस देह को धारण कर अच्छे और पुण्य कर्म करता है उसे शुभ फल की प्राप्ति होगी, नहीं तो बुरे कर्मों का बुरा फल वह भुगतेगा –

---

[25] वही, पृ. 141
[26] अपरोक्षसिद्धांत, पृ. 143

"मनुष देह तै करि सके भलो करम जो कोई।
ताकौ सिष यह जानि तूँ निहचै शुभ फल होई।।
बहुरयो याहि देह तैं करम बुरे करि लेत।
तेई या संसार में नाहि बुरो फल देत।।"[27]

गुरूदेव अपने शिष्य की शंकाओं को निर्मूल करते हुए कहता हैं कि "मनुष्य की उत्पत्ति ही इस मायावी संसार में कर्मों का फल भोगने के लिए हुई है। अच्छे और बुरे कर्मों का फल उसे इसी संसार में भोगना पड़ेगा। यद्यपि ईश्वर ने मनुष्य को इन कर्मों के भले व बुरे प्रभाव को समझने के लिए मति प्रदान की है परन्तु भला बुरा समझते हुए भी मनुष्य के तथा उसकी बुद्धि के वश में कुछ नहीं है; सब कुछ इस जगत के नियंता ईश्वर के हाथ में है, मनुष्य तो उसके हाथ की कठपुतली है।"[28]

मनुष्य के कर्मों पर विचार करते हुए बताया है कि मनुष्य वस्तुतः किसी भी कार्य का कर्त्ता नहीं होता, कर्त्ता तो सिर्फ ईश्वर ही होता है लेकिन मनुष्य इस बात पर गर्व करता रहता है कि वही सभी कर्मों का कर्त्ता है लेकिन यह सब मिथ्या है। कर्त्ता तो परोक्ष सत्ता होती है। मनुष्य तो केवल कर्मों का भोक्ता है और जब मनुष्य इस रहस्य को जान लेगा तब उसे कर्मफल को भोगने से एक क्षण में मुक्ति मिल जायेगी। यही जीवन का सार है, जो प्रत्येक मनुष्य नहीं जान पाता –

"जबहिं यह समुझै इतौ करता तोमैं नाँहि।
तबहिं ताकौ करमफल भोग मिटै छिनु माँहि।"[29]

जसवन्तसिंह आलोच्य ग्रंथ में भक्त पर ईश्वर के अनुग्रह को महत्व दिया है। भक्त पर ईश्वर के अनुग्रह अथवा कृपा के बिना इस भवसागर से उसकी नैया पार नहीं हो सकती। ईश्वर के अनुग्रह के विषय में वल्लभाचार्य भी अपना मत प्रस्तुत करते हैं। अपने 'पुष्टिमार्ग' सम्प्रदाय के माध्यम से वे कहते हैं कि भक्त पर ईश्वर का अनुग्रह अथवा पुष्टि आवश्यक है। इसी अनुग्रह से भक्त इस संसार को तार लेगा। वल्लभाचार्य से प्रभावित होते हुए ही कवि जसवन्तसिंह ने ईश्वर के अनुग्रह को महत्व प्रदान किया–

"अनुग्रह मान्यौ चाहिए ईस्वर को चित माँहि।
ईस्वर के अनुग्रह बिना कछुवै कारज नाँहि।।"[30]

---

[27] अपरोक्षसिद्धांत, पृ. 143
[28] वही, पृ. 145
[29] वही, पृ. 144
[30] अपरोक्षसिद्धांत, पृ. 145

ईश्वर की कृपा से भक्तवर के हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्रादुर्भूत होता है और ईश्वर के अनुग्रह से ही अविद्या का नाश भी हो जाता है।

जसवन्तसिंह इस विश्व–निर्माण के रहस्य को बतलाते हुए कहते हैं कि यह केवल ईश्वर की इच्छा के फलस्वरूप हुआ है और मनुष्य अपने कर्मों के कारण इस संसार में जन्म लेता है और भटकता रहता है। वह इस संसार में कभी पशु के रूप में तो कभी मनुष्य की योनि में जन्म लेकर कर्मफल को भोगता है। वह अनेक योनियों में भटकता रहता है। उसे शान्ति तभी मिलती है जब उस पर ईश्वर का अनुग्रह होता है। जब ईश्वर का अनुग्रह हो जाता है तब मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप उसे परम शान्ति की अनुभूति होती है --

"ईस्वर अनुग्रह ने बहुरि करम करत निहिकाम।
तब उपजत वैराग पुनि ता पाछै विस्राम।।"[31]

कवि ने मनुष्य को मोहजाल से मुक्ति दिलाने के लिए वैराग्य प्रवृत्ति का समर्थन किया है। जब मनुष्य अविद्या के वश में हो जाता है तब उसका अन्तःकरण मलीन हो जाता है और उसमें अहंकार की भावना आ जाती है जिसके कारण वह ब्रह्म से दूर हो जाता है। इसलिए अविद्या का नाश कर और अपने अन्तःकरण से अहंकार को त्याग कर अपने चित्त को उज्ज्वल करना चाहिए। चित्त उज्ज्वल होगा तो मलीन अविद्या का वास उसमें नहीं होगा जिससे उसे सिद्धि की प्राप्ति होगी, साथ ही उसमें ब्रह्म का निवास हो जायेगा।

सिद्धान्तबोध

जसवन्तसिंह रचित 'सिद्धांतबोध' गद्यात्मक रचना है। लेकिन ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में पद्यात्मक अंश है जो सवैया छन्द में रचित है। सिद्धांतबोध का आरंभ दोहे के साथ होता है जिसमें सर्वप्रथम ब्रह्म की वंदना की गई है तत्पश्चात् भ्रम और संशय को मिटाने वाले गुरू की वंदना की गई है। तत्पश्चात् शिष्य गुरू में प्रश्नोत्तर शैली में संवाद चलता हैं जिसमें बुद्धि, शब्द–अर्थ, ब्रह्म, ज्ञान, आवरण, पंचभूत, ईश्वर, इन्द्रियों के विषयों को स्पष्ट किया है साथ ही इनके आत्यन्तिक सम्बंधों के बारे में जानकारी प्रदान की गई है।

---

[31] वही, पृ. 148

सर्वप्रथम शिष्य अपने संदेह को मिटाने के लिए प्रश्न करता है कि बुद्धि से ब्रह्म को जाना जा सकता है या ब्रह्म से बुद्धि जानी जाती है। शास्त्रों में तो यह कहा गया है कि ब्रह्म बुद्धि गम्य नहीं है और बुद्धि तो जड़ है। इसी को शिष्य अपने गुरू से समझना चाहता है। आगे शिष्य कहता है कि ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है और उसमें अविद्या का अंश नहीं होता है जबकि बुद्धि में तो अविद्या का समावेश होता है तब मन में आता है कि यह बुद्धि जड़ है; तब गुरू अपने शिष्य की इन शंकाओं का समाधान करते हुए कहता है कि यदि बुद्धि को जड़ समझा जायेगा तो ज्ञान और बुद्धि में भेद माना जायेगा क्योंकि बुद्धि और बोध एक ही हैं। बोध और ज्ञान में भेद है। ज्ञान कारण है तो बोध कार्य। बोध बंधा हुआ जल है तो ज्ञान प्रवाहमान जल। अविद्या इन दोनों से भिन्न है। उसका संबंध विषय से है। जैसे कहा जाता है कि बादलों ने चन्द्रमा को आच्छादित कर लिया है, वास्तव में चन्द्रमा तो उसी जगह पर ही चमकता है पर हमारी दृष्टि के आगे बादल अवरोध बन कर छा जाते है। ठीक उसी प्रकार जिनकी बुद्धि पर अविद्या रूपी बादल आच्छादित हो जाते है, वह वास्तविक ज्ञान की अनुभूति नहीं कर सकता अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मत्व से साक्षात्कार नहीं कर सकता। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है और बोध भी ज्ञान स्वरूप है और बुद्धि में ब्रह्म उसी प्रकार नहीं समा पाता जैसे नेत्र इस संसार को तो देख सकते हैं लेकिन स्वयं को नहीं। इसलिए ज्ञान और बोध निसंदेह एक ही हैं और बिना ब्रह्म के अनुग्रह के बोध की जाग्रति संभव नहीं है।

शिष्य–गुरू के मध्य दर्शन सम्बंधी ऐसी ही प्रश्नोत्तरी चलती रहती है शिष्य जानना चाहता है कि जीव पर आवरण किस विधि द्वारा होता है। अज्ञान के आवरण के कारण ही जीव ब्रह्म को नहीं जान पता है। गुरू कहते हैं कि आवरण को एक उचित जगह चाहिए और उसके ये चार प्रमुख स्थान है जहाँ पर आवरण रहता है। एक है शुद्ध ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या के विषय पर आवरण, दूसरा जीव और मन के मध्य, तीसरा मन और इन्द्रियों के बीच तथा अन्तिम चौथा इन्द्रियों और विषय के मध्य आवरण रहता है। गुरू इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस व्यक्ति के हृदय पर शुद्ध ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अंकित है तो वहाँ अज्ञान रूपी अविद्या का आवरण स्वतः ही मिट जायेगा। इसी प्रकार मन लगाकर जिस वस्तु को देखेंगे और जिसे ध्यान लगाकर सुनेंगे उसे तत्काल ही समझ लेंगे जिससे जीव और मन के बीच का आवरण हट जायेगा। इन्द्रियों और विषयों के बीच भी कोई आवरण नहीं रहता क्योंकि अगर इनके बीच आवरण रहेगा तो विषय प्रत्यक्ष कैसे दिखेंगी। मन और इन्द्रियों के बीच में आवरण तब तक रहता है जब तक इन्द्रियाँ मन के वश में नहीं रहती

क्योंकि यदि चित चंचल रहता है तो आँखों के सामने अगर वस्तु है तो भी उसे वह नहीं दिखती कुछ और ही देख रही होती है इसी तरह कान को भी कुछ का कुछ सुनाई देता है। इनके बीच में जो यह आवरण है इसका मूल कारण अविद्या है और यह अविद्या का आवरण ईश्वर के अनुग्रह से ही मिटेगा।

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने तत्व ज्ञान द्वारा शास्त्रों के चिन्तन–मनन के फल स्वरूप दर्शन के गूढ़तम विषयों को बड़े ही सारगर्भित शब्दों में, प्रश्नोत्तर शैली में समझने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे संत महात्मा की अमृत वाणी अथवा वाग्धारा निकल रही हो। जसवन्तसिंह ने इन ग्रंथों की रचना कर अपनी दार्शनिक वृत्ति का पूरा परिचय दिया है। वैसे ग्रंथ का गद्य भाग यहीं समाप्त हो जाता है लेकिन अन्त में सवैया छन्द में ईश्वर के अनुग्रह को महत्व प्रदान करते हुए वे कहते हैं कि दान, स्थान, जप, तप, देव पूजा, व्रतादिक, इष्ट उपासना कितनी भी की जाये इन सबसे ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं होगी वह तो केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही ज्ञान पाना संभव है बाकी सभी प्रयास असफल है। जसवन्तसिंह ने अपने अनुभव संचित ज्ञान तथा शास्त्र वेद का अध्ययन, मनन तथा चिन्तन कर जो दार्शनिक मत प्रस्तुत किया है, मनुष्य को भगवान के अनुग्रह के लिए प्रेरित किया है, वह मानवता में नया ज्ञानोदय प्रसारित करने के लिए उपयोगी है।

सिद्धांतसार

जसवन्तसिंह ने अपने 'सिद्धांतसार' आध्यात्मिक ग्रंथ में ब्रह्म के स्वरूप, संसार में निर्गुण–सगुण की व्याप्ति, भ्रम (माया), आश्रम व्यवस्था और सांसारिक प्राणी (जीव) पर विस्तार से विचार किया है। जसवन्तसिंह ने ब्रह्म का निरूपण करते हुए उसे सत्–चित्–आनन्दमय, महाप्रकाशक, ज्ञानस्वरूप और त्रिगुणातीत कहा है जिसकी इच्छा ही उसका स्वरूप है, प्रियता उसका रूप है और यही प्रियता माया के रूप में इस संसार में अजब लीलाएं करती है–

"सत चेतनि आनंदमय महाप्रकाशक आहि।
ग्यान रूप अरू गुनरहित ऐसो जानौ ताहि।।
इच्छया ज्ञानि स्वरूप है प्रियता हू निज रूप।
प्रियता को माया समुझि सो फिरि भई अनूप।।"[32]

जसवन्तसिंह ने 'सिद्धांतसार' ग्रंथ को दोहा छन्द में लिखा है। इस लघु कलेवर में जसवन्तसिंह ने अधिक विस्तार की बातें समेट ली है। आध्यात्मिक

---

[32] सिद्धांतसार, पृ. 171

बातों को इस छोटे से दोहे में व्यक्त करना साहस की बात है क्योंकि इन्हीं बातों को व्यक्त करने के लिए बड़े–बड़े ग्रंथ, शास्त्र, वेद आदि की रचना हुई है। इस प्रकार जसवन्तसिंह ने दोहे के माध्यम से सार की बात कह दी है। कवि कह रहे हैं कि इस संसार में भ्रम (माया) का प्रसार भिन्न–भिन्न रूप में हो रखा है इसलिए इस भ्रम निवारण के लिए भगवद् कृपा अथवा अनुग्रह आवश्यक है इसके बिना भ्रम निवारण मुश्किल है। कवि कह रहे हैं कि ईश्वर की रचना संसार में निर्गुण और सगुण पर इस भ्रम ने बहुत विस्तार कर लिया है जिसका निवारण किसी से कभी नहीं होता–

"निगुन सगुन पर भरम ने करयौ बोहोत विस्तार
ताकौ कबहूं होत नहि काहू तै निरवार।।"[33]

वस्तुतः जीव को समस्त भ्रमों का त्याग कर इस जगत में अविच्छिन्न रूप से प्रतिभासित ब्रह्म अंश का बोध कर लेना चाहिए। मानव शरीर का निर्माण प्रकृति प्रदत पंच तत्त्वों से हुआ है लेकिन जब वह पृथ्वी पर जन्म लेता है तो वह जीव कर्मों के अधीन होकर भोग–विलास में लीन हो जाता है। अहंकारी जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर कर्म करता है और माया–मोह में फँसता जाता है। सभी इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय की ओर जीव को आकृष्ट करती है। इसके माध्यम से जीव माया के जाल में फँस जाता है जिसका विवरण कवि ने जीव के स्वप्न की कथा के माध्यम से दिया है। संसार में जब जीव पुत्र के रूप में जन्म लेता है माता–पिता, चाचा, भाई, बहिन आदि रिश्तेदार प्रसन्न होते हैं। जब थोड़ा बड़ा होता है तो पिता उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरूकुल भेज देते हैं वहाँ पढ़ लिख कर स्वयं को पंडित मानकर अहंकार से भर जाता है। पिता ने गुरू दक्षिणा देकर फिर पुत्र का विवाह कर उसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करा देते है। इस प्रकार सांसारिक प्राणी कर्म–बल से धनार्जन करता हुआ दान–पुण्य भी करता है और गर्व से फूला नहीं समाता है। कवि कह रहा है कि जीव के जन्म के पश्चात् उपर्युक्त जो भी बातें घटित हो रही हैं वह सभी भ्रम से परिपूर्ण है क्योंकि यह संसार ही भ्रमात्मक तथा मिथ्या है। एक स्वप्न में किसी पुरूष ने उसे बुलाया और उसे अनुपम नगर की तरफ ले जाता है जहाँ नगरवासी कहते हैं कि यहाँ कोई राजा नहीं है तब वह राजपाट के लिए उतावला हो जाता है और उसे प्राप्त करने चल पड़ता है जहाँ बीच में नदी के मंझधार में डूबने लगता है लेकिन लकड़ी को पकड़कर तैरता है जहाँ मगरमच्छ उसे खाने को दौड़ता है तभी निद्रा से जाग्रत हो उठता है तब–

---

[33] सिद्धांतसार, पृ. 171

"ऐसे बीते बोहोत दिन राग द्वैष के मांहि।
अब कीजै साधन कछु जीबौ निस्चै नांहि।।"[34]

ऐसा सोचकर वह वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर प्रभु भक्ति की ओर अग्रसर होने का निश्चय करता है। तब वह मुहूर्त देखकर पुत्र को घर बार सौंपकर अपनी अर्द्धांगिनी के साथ वन की ओर चल पड़ता है। गंगा के तट पर कुटिया बनाकर रहने लगता है तथा एक साधु से आत्म शान्ति तथा आवागमन से मुक्ति का उपाय पूछता है। साधू उसे जीवन मुक्ति का उपाय बताते हुए कहता है कि यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा प्रत्याहार से मन को स्थिर किया जाए। जब ध्यान करने वाला (ध्याता), जिसका ध्यान किया जाए (धेय) तथा चित्त को एकाग्र कर ब्रह्म की ओर लगाने की क्रिया (ध्यान) तीनों ही एकरस हो जाते हैं वह समाधि बखानी जाती है और उसमें गहन ज्ञान की अनुभूति है–

"ध्याता ध्यान स धेय जब भए एक रस जानि।
जहां भास भासै नहीं ताहि समाधि बखानी।।"[35]

कवि उक्त साधु के माध्यम से कहना चाहते हैं कि किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए, अहिंसा में विश्वास करना चाहिए, असत्य वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस विधि से जीव तृष्णा मुक्त हो जाता है, जप, तप, व्रत और स्वाध्याय से संतोष की प्राप्ति होती है और पल–प्रतिपल शिव का चिंतन करने से परम शान्ति की अनुभूति होती है। सांसारिक प्राणी इसके माध्यम से अपने अन्तर्मन में शुचिता को जाग्रत कर सकता है। जब वह समाधि धारण करता है तब उसे खान–पान तक की सुध–बुध नहीं रहती तब वही साधू उसे जगा कर संन्यास ग्रहण करने की सीख देता है और कहता है कि तुम अपने को मन, बुद्धि, चित आदि से दूर कर दो, साथ ही अन्तःकरण से अविद्या के स्वरूप अहंकार को त्याग दो तभी उस सच्चिदानंद ईश्वर की प्राप्ति होगी। मन–बुद्धि से अहंकार के नाश होने से अज्ञान मिट जाता है और तब जीव और ब्रह्म में अभेद स्थिति का भान होने लगता है।

जसवन्तसिंह ने इस कथा के माध्यम से भारतीय आश्रम व्यवस्था का समर्थन किया है। इसके माध्यम से कवि भारतीय संस्कृति के पोषक ठहरते हैं। वे हमे चारों आश्रमों का महत्व बतलाते हुए उसमें अनुगमन करने की प्रेरणा प्रदान करते है। जसवन्तसिंह उक्त वृत्तान्त द्वारा यह भी सिद्ध करते हैं कि संसार चक्र में फँसे प्राणी को यदि मानसिक, शारीरिक शान्ति तथा आध्यात्मिक

---

[34] सिद्धांतसार, पृ. 175
[35] वही, पृ. 177

ज्ञान प्राप्त करना है तो उसे इस आश्रम व्यवस्था के माध्यम से गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर लेना चाहिए और अपने अन्तिम समय में संन्यास ग्रहण कर मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में लग जाना चाहिए ताकि सांसारिक आवागमन से जीव को छुटकारा प्राप्त हो सके

"मुक्त दसा तेरी सुनैं भयौ परम सुख मोहि।
निस्चै मैं जान्यौं अबै मिट्यौ भरम भय तोहि।।"[36]

ग्रंथ के समापन में जसवन्तसिंह अपने अन्य ग्रंथों की तरह कहते हैं कि जो व्यक्ति ध्यान लगाकर 'सिद्धांतसार' को सुनेगा उसे मुक्ति के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं करना पड़ेगा।

छूटक दोहा

'सिद्धांतसार' के उत्तरार्द्ध में 'छूटक दोहा' शीर्षक से छन्द संकलित किये गये हैं वे एक प्रकार से उक्त ग्रंथ के अनुपूरक है। इन छन्दों में कुछ दोहे, सोरठा, कुण्डली आदि मिलते हैं। जसवन्तसिंह अपने इन पूरे ग्रंथों में दार्शनिक सिद्धांतों को प्रस्तुत करते हुए ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हैं। अन्य ग्रंथों की तरह 'छूटक दोहा' में भी ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अन्य दार्शनिक मत पर यत्किंचित विचार व्यक्त करते हैं।

जसवन्तसिंह सांसारिक प्राणी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम प्रेम का स्थान आता है तत्पश्चात् भक्ति का तद्जनित वैराग्य की उद्भावना जीव के मन में होती है और अन्त में यम, नियम, योग, प्राणायाम आदि अष्टांग का स्थान निश्चित है जिसके फलस्वरूप जीव के मद, मोह, विषय आदि में लीन प्राण जाग्रत हो उठते है और ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्म में आत्मलीन होने के लिए जीव के प्राण लालायित हो उठते हैं और प्रयत्न सफल हो जाता है क्योंकि प्रत्येक जीव में ब्रह्म का अंश विद्यमान रहता है लेकिन जीव जब इस संसार में पदार्पण करता है तब इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयों में लीन हो जाता है और इस प्रकार अपने अंशी भाव ब्रह्म को भूल जाता है। लेकिन जब जीव अपने आत्मिक बल पर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब उसे परमात्मा का बोध होता है और उसे पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। जिस प्रकार कुसुंभी रंग जल में मिल जाता है तो उसे जल से अलग करना कठिन होता है उसी प्रकार जीव अपने आत्म तत्व को जाग्रत कर ब्रह्म से मिल जाता है तो उसे भी अलग नहीं किया जा सकता।

---

[36] सिद्धांतसार, पृ. 188

जिस ब्रह्म के विषय में शास्त्र, वेद आदि ने समझाने में असमर्थता जताई हो, नेति नेति कहकर उसके स्वरूप को समझाने में असमर्थता प्रकट की हो, उस अपार अव्याप्त, विराट, अखण्ड ब्रह्म के विषय में जसवन्तसिंह भी अपनी विनम्रता व्यक्त करते हुए कहते हैं–

"कहौ कहा प्रभु की कथा मौ पैं कही न जाई।
जिहि जैसौ निस्चै करयौ ताकौ ताही भाई।।"[37]

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने इन दार्शनिक ग्रंथों की रचना अपने अनुभव ज्ञान तथा आत्मज्ञान के बल पर की है। इन सभी ग्रंथों की मुख्य विषय–वस्तु यही है कि ब्रह्म के अनुग्रह के बिना मुक्ति संभव नहीं है। अतः उसे प्राप्त करने के लिए जीव को प्रयत्नशील रहना चाहिए।

दोवा

राजस्थानी भाषा का 'दोवा' शब्द दोहा का ही विकसित रूप है, जहाँ अंचल अथवा गाँवों में आज भी 'दूवा' रूप प्रचलित है। जसवन्तसिंह प्रणीत इस ग्रंथ में कुल 55 छंद है, जिसमें दो सोरठे (19 व 49) है। इस हस्तलिखित प्रति में बीच–बीच में कुछ शीर्षक भी दिये गये है– 'अथ नायका बरनन', 'अथ विरह', 'अथ संयोगिनी बरनन'। 'दोवा' संग्रह के छन्दों को देखने से पता चलता है कि ये प्रकीर्णक संगह है, क्योंकि ग्रंथ के आरंभिक छन्दों के शीर्षक नहीं दिये गये हैं। इन दोहों को देखने से हमें ज्ञात होता है कि इन पर बिहारी का प्रभाव अवश्य रहा होगा क्योंकि इनके काफी दोहे बिहारी के दोहों से समानता रखते हैं।

जसवन्तसिंह ने समकालीन रीतिकवियों की भांति इसमें नायिका भेद का चित्रण किया है साथ ही शृंगार रस को भी विविध रूपों में चित्रित किया है। कवि ने कहीं–कहीं पारम्परिक उक्तियों का समावेश किया है किन्तु अधिकतर कवि की मौलिक व नूतन कल्पना का दिग्दर्शन होते है। जैसे–

"मुक्तमाल हिय स्याम कै देखि भावत नैन।
छवि ऐसी लागत मनौ कालिंद्री में फेन।।"[38]

'मनौ कालिन्द्री में फेन' उक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न किया गया है। यहाँ कवि की मौलिक कल्पना उजागर हो जाती है। इसके अनंतर मुग्धा नायिका का चित्रण है जिसमें कामदेव को

---

[37] छूटक दोहा, पृ. 189
[38] दोवा, पृ. 73

त्रिबली रूपी सीढी से रोमावली–रूपी डोरी से ऊपर चढ़ता दिखाया है। तीसरे दोहों में वर्षा का वर्णन है। ग्रीष्म ऋतु में जल सूख जाता है, धरती जलती है, रातें छोटी हो जाती है इसलिए ग्रीष्म को दण्डित करने के लिए बादल बिजली की ज्योति के सहारे उसे ढूँढ़ रहा है। यह नवीन कल्पना है। इसी प्रकार चौथे में प्रभात तथा पांचवें में वर्षागम का वर्णन उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे किया गया है। तत्पश्चात् कवि ने नायिका की वयः सन्धि को चित्रित किया है जिसमें नायिका के शारीरिक सौंदर्य का चित्रण करते हुए शैशव और यौवन को क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य मानते हुए उसे पूर्णिमा और प्रभात के सदृश दिखाया है। उसी प्रकार अगले दोहे में नायिका के वयः सन्धिकाल में हृदय में उठते प्रबल वेगों और यौवन के प्रदर्शन और गोपन की मनोवृत्तियों का हृदयकारी चित्रण किया है।

अज्ञात यौवना का चित्रण आठवें दोहे में किया गया है। 9–10 दोहे में सुरतान्त वर्णन है। 11–12 प्रवत्सत्पतिका के तो 13 में प्रवत्स्यत्पतिका के उदाहरण है। दोहा 14–15 में अभिसारिका का वर्णन है जिसमें काली रात में अकेली नायिका नायक से अभिसार करने जाती है–

"निसि कारी प्यारी चली करतु प्रगट दुति गात।
कंचन सी लागत मनौ कसौ कसौटी जात।।"[39]

इसमें प्रथम दोहे में तो 'पंच बान लिए काम' एक पारम्परिक उक्ति है किन्तु दूसरे दोहे में 'कंचन सी लागत मनौ कसौ कसौटी जात' कवि की मौलिक उद्भावना है अर्थात् काली रात में नायिका के शरीर का औज्ज्वल्य सोने की भांति दीप्त हो रहा है जैसे उसे सोने की कसौटी पर कस दिया गया है। दोहा 16–19 तक नायिका के मान का वर्णन किया गया है और 19 वें दोहे में गुरू मान का वर्णन है और इसमें पारम्परिक उक्ति काम में ली गयी है जब नायिका अपने प्रिय से रुष्ट होकर बैठ जाती है तो उनका प्रिय उसे मनाने के लिए उसके पाँव पड़ता है तब भी कठोर हृदय नायिका पसीजती नहीं है बल्कि और कठोर रूप धारण कर लेती है। यही गुरू मान की चरम अवस्था है–

"पांय परै जब पीय अवधि यह बली मान की।
तऊ न पघिरयो हीय कुच ते लीनी कठोरता।।"[40]

जसवन्तसिंह ने नायिका भेद के अन्तर्गत खण्डिता नायिका का चित्रण करते हुए अपनी मौलिकता को बरकरार रखा है। जैसे– नायिका नायक की

---

[39] दोवा, पृ. 74
[40] वही, पृ. 75

गतिविधियों से रुष्ट होकर रोषपूर्वक देखती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि कटाक्ष बाण में मोती (मुक्ता–आँसू) न पिरोकर लाल (माणिक–रोष) पिरो दिये गये हैं। क्रोध में आँखे वैसे भी लाल हो उठती है। इसमें कवि की नवीन कल्पना दृष्टिगोचर होती है–

"लाल भाल जावक लखै तिरछै चित्यो बाल।
तीर मांहि मोती नहीं मानहु पोए लाल।।"[41]

रीतिकाल में नायिका भेद पर संस्कृत आचार्यों के लक्षण ग्रंथों का प्रभाव प्रमुखतः रहा है। जिसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' प्रमुख है। दोहा 24–30 तक अनुरागिनी नायिका का वर्णन है जिसमें जसवन्तसिंह ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। प्रेम सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि–

"गति दै मति दै हेत दै रस दै सचु दै दान।
धन दै मन दै सीस दै नेह न दी जै जान।।"[42]

जसवन्तसिंह ने 'अथ नायका बरनन' में नायिका के नख–शिख का सौन्दर्य चित्रण करते हुए तारतम्य नहीं बनाए रखा है क्योंकि कहीं पहले मुख का चित्रण किया है तो बीच में ही कमर का चित्रण आ गया है, फिर केश का जिससे इसमें तारतम्यता नहीं आ पायी है। जसवन्तसिंह ने नायिका के कतिपय अंगों को निर्गुण भक्ति के चिन्हों से सम्बंधित कर श्रृंगार में भी अध्यात्मिक भावना सम्बंधित कर नूतन कल्पना की सृष्टि की है। नेत्र को निरंजन (माया रहित ब्रह्म) अर्थात् अंजन रहित कहकर कमर को निर्गुण (ब्रह्म) अर्थात् सूक्ष्म कहा है और स्तन निर्लेप (निस्संग) और अलौकिक छटा युक्त है–

"नैन निरंजन निगुन कटि यह निरलेप उरोज।
जानत हौं तोकौं कियौ यह उपदेस मनोज।।"[43]

जसवन्तसिंह ने भ्रांतिमान अलंकार का भी उपयोग किया है। चकोर पक्षी नायिका के उज्ज्वल शरीर और पूर्णिमा के चन्द्रमा दोनों को देखकर भ्रमित हो गया है कि असली चन्द्रमा कौन है–

"एक ओर तिय बदन दुति पुरन ससि इक ओर।
भूलि भ्रमे इहि दुहुन के दौरत फिरे चकोर।।"[44]

---

[41] दोवा, पृ. 75
[42] वही, पृ. 95
[43] वही, पृ. 76
[44] दोवा, पृ. 77

'अथ विरह' वर्णन में जसवन्तसिंह ने पारम्परिक उपमानों को लेकर विरह का वर्णन किया है। कोयल का कूकना, चातक का रटना, बिजली का कड़कना, चमकना आदि पारम्परिक उपमान है, इन्हीं का आलम्बन लेकर वर्णन किया है। तत्कालीन सामन्ती परिवेश में रीतिकालीन कवियों ने विरहणी के विरह को प्रकृति के उद्दीपन के सहारे प्रदर्शित किया था वैसे ही जसवन्तसिंह ने भी प्रकृति को उद्दीपक रूप में चित्रित किया है–

"पिक कुहुकै चातक रटै पगटै दामिनी जोत।
पिय बिन यह कारी घटा प्यारी कैसे होत।।"[45]

इसी प्रकार नायिका के विभिन्न शारीरिक व मानसिक दशाओं का चित्रण किया गया है। अन्त में 'अथ संयोगिनी बरनन' में अनुरागिनी नायिका का चित्रण किया गया है। नायक के प्रेम में अनुरक्त प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल नायिका पक्षी की भांति उड़कर तत्काल अपने प्रिय से मिलना चाहती है लेकिन पंख नहीं होने के कारण विवश है–

"मन चाहत है उड़ि मिलूं तुम सज्जन पै धाई।
कहा कहौ जो पर नहीं पर बिन उड़यो न जाई।।"[46]

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने इन प्रकीर्ण दोहों में बिहारी की तरह रीति सिद्ध काव्य की रचना कर दी है। इनमें उत्प्रेक्षा अलंकार का अधिक प्रयोग किया गया है।

भाषाभूषण

रीतिकालीन परिवेश में जसवन्तसिंह ने भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का प्रणयन किया। वैसे रीतिकाल में आलंकारिक ग्रंथों की कई रचना शैलियाँ रही है। कुछ आचार्यों ने दोहों में ही लक्षण और उदाहरण लिखे हैं। कुछ ने लक्षण दोहों में और उदाहरण बड़े छन्दों में लिखे और कुछ ने तो लक्षण और उदाहरण दोनो ही बड़े छन्दों में लिखे। कुछ ऐसे भी विद्वान हुए जिन्होंने लक्षण तो मौलिक लिखे लेकिन उदाहरण दूसरों के बनाये हुए लिखे। इन विभिन्न शैलियों में जो प्रथम प्रकार की शैली है (लक्षण और उदाहरण दोनों ही दोहों में) उसमें जसवन्तसिंह प्रधान है। उन्होंने अपनी 'भाषाभूषण' रचना इसी शैली (संक्षिप्त शैली) में की।

---

[45] वही, पृ. 77
[46] वही, पृ. 78

जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' की रचना संस्कृत आचार्य जयदेव के 'चन्द्रालोक' शैली पर तथा अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' का अनुकरण करते हुए की। "वैसे 'चन्द्रालोक' शैली पर 'कुवलयानंद का अनुकरण करते हुए हिन्दी में अलंकार ग्रंथों की रचना तो गोपा की 'अलंकार चंद्रिका' से प्रारंभ हो चुकी थी, परन्तु हिन्दी में इस शैली की वास्तविक प्रतिष्ठा उस शताब्दी के अंत में महाराजा जसवन्त सिंह द्वारा रचित 'भाषाभूषण' से ही हुई।"[47] महाराजा ने शैली तो 'चंद्रालोक' से ली है लेकिन 'भाषाभूषण' में वर्णित एक सौ अर्थालंकारों के लिए 'कुवलयानंद' का आधार ग्रहण किया है क्योंकि आरंभ से अन्त तक अनवरत तथा शृंखलाबद्व रूप से अलंकार 'कुवलयानंद' के अलंकारों की शृंखला की तरह रखा गया है अन्तर है तो केवल यही कि अप्पयदीक्षित के 'उतर अलंकार' को जसवन्त सिंह ने 'गूढ़ोत्तर' बना दिया है।

भाषाभूषण 'कुवलयानंद' के अनुकरण पर लिखी गयी है। अप्पयदीक्षित ने स्वयं जयदेव के 'चन्द्रालोक' के पंचम मयुख को टीका के रूप में लिखा है जिसमें आचार्य दीक्षित ने कहीं भूल–सुधार किया है तो कहीं अलंकारों के भेदों को बढ़ाया भी है। जसवन्तसिंह ने इसी परिवर्तित रूप को स्वीकार करते हुए 'भाषाभूषण' की रचना की। "स्मरण रखना चाहिए कि कुवलयानंद टीका में चन्द्रालोक के मूल में भी परिवर्तन कर लिया गया है। भाषाभूषण में जिस चन्द्रालोक को आधार रखा गया है वह यही परिवर्तित चन्द्रालोक है। इसलिए इसे 'कुवलयानंदीय चन्द्रालोक कहना उपयुक्त होगा।"[48] स्वयं जसवंतसिंह ने स्वीकार किया है कि –

"अलंकार सब अर्थ के कहे एक सौ आठ।
किये प्रगट भाषा विषै देखि संस्कृत पाठ।।"[49]

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भाषाभूषण' संस्कृत ग्रंथों पर अवलम्बित है।

'भाषाभूषण' में पांच प्रकाश है। प्रथम पांच दोहों में मंगलाचरण, द्वितीय प्रकाश जिसमें 18 दोहे हैं जिसमें नायक नायिका भेद के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। तृतीय प्रकाश में सात्विक, हाव, वियोग की दशाओं, रस आदि का वर्णन है। चौथे प्रकाश में अर्थालंकारों का लक्षण उदाहरण एवं भेदादि का विवेचन है। पांचवे प्रकाश में शब्दालंकारों, समस्त अलंकार संख्या, ग्रंथ प्रयोजन, नामहेतु, फल का कथन है।

---

[47] हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम प्रकाश, पृ. 78
[48] हिन्दी साहित्य का अतीत, शृंगारकाल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 149
[49] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 68

जसवन्तसिंह ने अपने 'भाषाभूषण' ग्रंथ में अलंकारों की कुल संख्या 108 बताई है– 'अलंकार सब अर्थ के कहे एक सौ आठ।' जबकि इनके आधार ग्रंथों में क्रमशः चन्द्रालोक और कुवलयानंद में सौ अर्थालकारों का वर्णन है। जयदेव ने अपने 'चन्द्रालोक' में 'अलंकृतयः शतम्' द्वारा सौ अर्थालंकार बताए गये है। वहीं कुवलयानंद ने भी लिखा है–

"इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मातान्यालोच्य सर्वतः।।"[50]

जबकि जसवन्तसिंह ने 102 अर्थालकारों का 'भाषाभूषण' में नियोजन किया है। जसवन्तसिंह ने उपमा से पृथक लुप्तोपमा का स्वतंत्र उल्लेख किया है साथ ही उत्तर अलंकार के चित्र और गूढ़ोत्तर दो अलंकारों में भेद कर स्वतंत्र वर्णन किया है जिससे इनके 102 अर्थालंकार हो जाते हैं। 'भाषाभूषण' में छः शब्दालंकार है– छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, उपनागरिकावृत्ति, परुषा वृत्ति, कोमला वृत्ति। 102 अर्थालंकारों में छः शब्दालंकारों को मिला देने से 108 संख्या हो जाती है। 'चन्द्रालोक' में आठ शब्दालंकार बताए गये है– छेकानप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरूक्त प्रकाश, यमक और चित्र। 'कुवलयानंद' में शब्दालंकारों का वर्णन ही नहीं किया गया है। जसवन्तसिंह ने 'चन्द्रालोक' से कुछ ही शब्दालंकार लिखे हैं, पूरे नहीं क्योंकि भाषा के योग्य जो शब्दालंकार है वही उन्होंने ग्रहण किये हैं। चूँकि संस्कृत की प्रवृत्ति भाषा अक्षरसः भिन्न है जिसके कारण संस्कृत के सभी शब्दालंकार ज्यों के त्यों भाषा में नहीं आ सकते–

"शब्दालंकृत बहुत हैं अक्षर के संजोग।
अनुप्रास षटबिधि कहे जो है भाषाजोग।।"[51]

'भाषाभूषण' की महत्वपूर्ण विशेषता उसकी संक्षिप्तता और सरलता है। इस तथ्य का पता हमें उनके द्वारा वर्णित एकावली अलंकार से चलता है जिसे उन्होंने कितने संक्षिप्त और सरल तरीके से समझा दिया है–

"ग्रहित मुक्त पद रीति जब एकावलि तब मानि।
दृग श्रुतिपर श्रुति बाहु पर बाहु जंघ लौ जानि।।"[52]

जबकि यही अलंकार 'कुवलयानंद' में विस्तृत उदाहरण के साथ लिखा गया है–

"गृहीत मुक्तरीत्यार्थ श्रेणिरेकावलिर्मता।

---

[50] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 165
[51] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 68
[52] वही, पृ. 44

नेत्रे कर्णान्तनिश्रान्ते कर्णौ दोः स्तंभ दोलितौ।।
दोः स्तंभौ जानुपर्यन्त प्रलम्बनमनोहरौ।
जानुनौ रत्नमुकुराकारे तस्य हि भूभुजः।।"[53]

'भाषाभूषण' की इसी संक्षिप्तता और सरलता के कारण यह रीतिकाल में भी सर्वप्रिय हुआ और आधुनिक काल में भी काफी लोकप्रिय रहा। इसीलिए इसे शिक्षार्थियों के लिए पाठ्यक्रम में भी शामिल किया गया था।

जसवन्तसिंह ने कहीं–कहीं पर अलंकारों को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया है बल्कि उन अलंकारों को शीघ्रतापूर्ण सीमित कलेवर में समेटने का प्रयास किया है। हो सकता है कि ग्रंथ के विस्तार के भय से कुछ अलंकारों के लक्षणों को स्पष्ट नहीं किया हो।

'भाषाभूषण' में उपमा अलंकार का लक्षण नहीं दिया गया है साथ ही उपमेय आदि को भी नहीं समझाया है। जसवन्तसिंह ने उपमा का लक्षण न देकर पूर्णोपमा की परिभाषा प्रस्तुत की है। इनके अनुसार इस विधि से जब सभी प्रकार की समता मिल जाती है तब उपमा होगी। इसी प्रकार अगले दोहे में उपमा के चारों अंगों के केवल नाम (वाचक, धर्म, उपमेय व उपमान) गिना दिये है, उनके स्वरूप को इन्होंने स्पष्ट नहीं किया है–

"उपमेयरू उपमान जहँ वाचक धर्म सुचारि।
पूरन–उपमा हीन तहँ लुप्तोपमा विचारि
× × ×
इहि विधि सब समता मिले उपमा सोई जानि।"[54]

हमने पहले ही कहा है कि ग्रंथ–विस्तार के भय से इन्होंने अलंकारों को अपने विवेक के अनुसार रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार आचार्य ने पूर्णोपमा के उदाहरण में विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के पूर्णोपमा के भेदों में से आर्थी पूर्णोपमा के अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर दिये है–

"मधुरः सुधावदधरः पल्लव तुल्योऽतिपेल्लवः पाणि।"[55] (साहित्यदर्पण)
"ससि सों उज्जल तियबदन पल्लव से मृदु पानि।।"[56]

जसवन्तसिंह 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' जैसे संस्कृत ग्रंथों को आधार बनाकर चलते हैं फिर भी अन्य ग्रंथों जैसे 'साहित्यदर्पण' व मम्मट के

---

[53] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 175
[54] भाषाभूषण, सं. गुलाब राय.पृ. 17
[55] साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, पृ. 294
[56] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 18

'काव्यप्रकाश' की छाया भी कहीं–कहीं दिखाई पड़ जाती है। यह छाया कहीं लक्षणों में तो कहीं उदाहरणों में दिखाई पड़ती है। जैसे 'साहित्यदर्पण' के उपर्युक्त उदाहरण से ज्ञात हो जाता है।

जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' की रचना करते समय संस्कृत के उपर्युक्त दो प्रमुख आधार ग्रंथों के अलावा और भी ग्रंथों का आलम्बन लिया है। मम्मट के 'काव्य प्रकाश' अलंकार ग्रंथ का प्रभाव भी 'भाषाभूषण' पर रहा है। जसवन्तसिंह ने 'व्यतिरेक' अलंकार के लक्षण को स्पष्ट करने के लिए 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' का प्रभाव ग्रहण नहीं किया है बल्कि संस्कृताचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में उल्लिखित व्यतिरेक अलंकार के लक्षण की छाया ग्रहण की है–

"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेक : स एव सः।"[57]

"व्यतिरेक जु उपमान ते उपमै अधिकै देखि।"[58]

अब 'साहित्यदर्पण' से तुलना कीजिये–

"आधिक्य मुपमेय स्योपमानान्न्यूनताथवा।।"[59]

इस प्रकार कुछ प्रभाव साहित्यदर्पणकार का भी पड़ा है। लेकिन इस लक्षण का उदाहरण इनसे भिन्न जसवन्तसिंह का मौलिक है। श्लेष अलंकार में भी मम्मट के काव्य प्रकाश का प्रभाव ग्रहण किया गया है–

"श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत।"[60]

"श्लेष अलंकृत अर्थ बहु एक शब्द में होत।"[61]

जसवन्तसिंह ने श्लेष अलंकार में केवल अर्थ श्लेष का ही विवेचन किया है, शब्द श्लेषादि का नहीं।

जसवन्तसिंह ने उपर्युक्त संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों का केवल अविकल भावानुवाद व शब्दानुवाद ही प्रस्तुत नहीं किया अपितु इनसे इत्तर अपने लक्षणों में मौलिकता लाने का प्रयास भी किया है। जैसे अनन्वय अलंकार में इन्होंने अपनी मौलिक शक्ति का परिचय दिया है। जसवन्तसिंह के अनुसार जब उपमेय ही उपमान हो जाए तो अनन्वय होगा। चन्द्रालोककार एवं अप्पयदीक्षित एक ही वस्तु को उपमेयता एवं उपमानता प्रदान करने में अनन्वय मानते हैं। इसी प्रकार इन्होंने विकल्प अलंकार में भी मौलिकता लाने का प्रयास किया है।

---

[57] काव्यप्रकाश, मम्मट, पृ. 409
[58] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 32
[59] साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, पृ. 383
[60] काव्यप्रकाश, मम्मट, पृ. 391
[61] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 33

इनके अनुसार यह या वह दो में से एक के वृतान्त वर्णन को विकल्प कहा है। इन्होंने अपनी बात को अधिक स्पष्ट नहीं किया है।

जसवन्तसिंह ने कहीं–कहीं लक्षण तो 'कुवलयानंद' से लिए हैं अर्थात् लक्षणों में साम्यता है लेकिन उदाहरण भिन्न हैं–

"अभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इस्यते।
विनापितन्वि। हारेण वक्षो जौ तव हारिणो।"[62]
"भासै जबै विरोध सो वहै विरोधाभास।
उत रत हौ उतरत नहीं मन तें प्राननिवास।।"[63]

इस प्रकार जसवन्तसिंह के उदाहरणों की भिन्नता में भी इनकी मौलिकता तथा कवित्व शक्ति का परिचय हमें मिलता है।

जसवन्तसिंह अपने आधार ग्रंथों 'चन्द्रालोक' एवं 'कुवलयानंद' के आधार पर वक्रोक्ति अलंकार को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार करते हैं। जबकि संस्कृत आचार्यों में कुछ ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार तथा कुछ ने अर्थालंकार स्वीकार किया है। "इनमें रूद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट तथा विश्वनाथ ने इसे शब्दालंकार के रूप में उपस्थित किया है तो रूय्यक, शोभाकर, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ तथा दीक्षित ने अर्थालंकार के रूप में।"[64]

जसवन्तसिंह ने अत्युक्ति अलंकार में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' से थोड़ी भिन्नता प्रदर्शित की है। भिन्नता इस रूप में कि 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' दोनों ही ग्रंथों में अत्युक्ति अलंकार को जहाँ शौर्य, उदारता आदि का अद्‌भुत तथा झूठा (अतथ्य) वर्णन किया जाए, (जहाँ किसी के शौर्यादि को झूठे ही बढ़ा–चढ़ा कर बताया जाए), कहकर व्यक्त किया है। लेकिन जसवन्तसिंह ने वर्णन के अतिशय रूप को अत्युक्ति अलंकार कहा है। इसमें अपने आधार ग्रंथों की तरह मिथ्या वचन को प्रदर्शित नहीं किया है। तुलना दृष्टव्य है–

"अत्युक्तिरद्‌भूतातथ्यशौयौदार्या दिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेन्द्र। याचकाः कल्पशाखिनः।।"[65]
"अलकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरू भूप।।"[66]

---

[62] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 141
[63] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 130
[64] अलंकारों का ऐतिहासिक विकास, राजवंशसहाय हीरा, पृ. 262
[65] चन्द्रालोक, पृ. 217, कुवलयानंद, पृ. 262
[66] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 64

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण (चन्द्रालोक तथा कुवलयानंद) को देखने से ज्ञात होता है कि जसवन्तसिंह के लक्षण की परिभाषा स्वतंत्र है। उन्होंने 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' के उदाहरण का तो शब्दानुवाद कर दिया है, किन्तु उनकी परिभाषा में मूल की सारी विशेषताएँ नहीं आ सकी हैं। इन्होंने केवल औदार्य का ही वर्णन किया। औदार्य का वर्णन भी उदाहरण से सूचित होता है अन्यथा इनके लक्षण के अनुसार तो किसी विषय का अतिशय वर्णन करना ही अत्युक्ति है।

आचार्य जसवन्तसिंह ने अतिशयोक्ति अलंकार के जो आठ भेद 'भाषाभूषण' में परिगणित किये हैं वे सभी भेद 'कुवलयानंद' के भेदों का अविकल शब्दानुवाद तथा भावानुवाद है। अतिशयोक्ति का चन्द्रालोककार ने लक्षण नहीं दिया है, जसवन्तसिंह ने भी अतिशयोक्ति अलंकार को परिभाषित नहीं किया है बल्कि सीधे ही भेदों का कथन कर दिया है। जयदेव ने छः भेदों तथा उनके उदाहरण दिये हैं। इन्होंने अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति एवं रूपकातिशयोक्ति नामक छः भेदों का उल्लेख किया है। 'कुवलयानंद' में इन छः भेदों का क्रम बदल गया है और सापह्नवतातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति दो नये भेद भी आ गये हैं। भाषाभूषणकार ने इन्हीं 'कुवलयानंदीय' आठ भेदों को क्रमित रूप से व्यक्त कर दिया है। लेकिन इनके अधिकतर उदाहरण स्वतंत्र तथा आधार ग्रंथों से अच्छे हैं इसलिए ये शीघ्र कण्ठस्थ हो जाते हैं–

"अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा।"[67]

"बान न पहुँचे अंग लौं अरि पहिले गिरी जाहि।"[68] (अत्यन्ता)

"अहो अन्यैव लावव्यलीला बालाकुचस्थले।"[69]

"अन्य देवास्य गाभीर्यमन्यद्धैर्य महीपतेः।।"[70]

"औरे हंसिबो देखिबो औरे याकी बात।"[71] (भेदकातिशयोक्ति)

इस प्रकार के सरल, संक्षिप्त व सुबोध उदाहरण 'भाषाभूषण' की लोकप्रियता का कारण स्पष्ट करते हैं।

'भाषाभूषण' में केवल 'कुवलयानंद' तथा 'चन्द्रालोक' का ही आधार ग्रहण नहीं किया गया है बल्कि अन्य ग्रंथों के कारण भी कुछ नवीनता के

---

[67] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 53
[68] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 27
[69] चन्द्रालोक, जयदेव, पृ. 152
[70] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 49
[71] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 25

दर्शन हो जाते हैं जैसे 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है। कुवलयानंद में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है–

"अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया।"[72]

मूल चन्द्रालोक में लक्षण इस प्रकार है–

"अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा।
कार्यकारण सामान्यविशेषादेरसौ मता।।"[73]

इस प्रकार जयदेव ने इसके पांच भेदों की ओर संकेत किया है, 'कुवलयानंद' में स्पष्ट रूप से पांचों का उल्लेख इस प्रकार है–

"कार्य निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।"[74]

'भाषाभूषण' में उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के न तो पांचों भेदों को ग्रहण किया है और न उदाहरणों को। जसवन्तसिंह ने केवल अप्रस्तुत के वर्णन को अप्रस्तुत प्रंशसा अलंकार कहा है। इन्होंने दूसरे भेद में प्रस्तुत का अंश लेकर अप्रस्तुत के वर्णन का उल्लेख किया है–

"अलंकार द्वै भांति कै अप्रस्तुत परसंस।
इक बर्नन प्रस्तुत बिना दूजै प्रस्तुत अंस।।"[75]

इनके दूसरे भेद पर वाग्भट के 'काव्यानुशासन' में उल्लिखित अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का प्रभाव है जिससे प्रस्तुतांश में भी अप्रस्तुत प्रशंसा मानी गयी है।

जसवन्तसिंह ने वैसे तो 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' संस्कृत ग्रंथों के अधिकतर अलंकारों का भावानुवाद कर दिया है किन्तु कहीं–कहीं इन्होंने कुछ अलंकारों को इन ग्रंथों से अधिक स्पष्ट किया है तो कहीं पर अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है जिससे हम यह नहीं कह सकते कि इन्होंने उपर्युक्त ग्रंथों का अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया है। काव्यलिंग अलंकार को ही ले लीजिए जिसमें इन्होंने 'कुवलयानंद' के लक्षण का केवल भावानुवाद ही नहीं किया बल्कि किसी युक्ति से अर्थ समर्थन पर बल देते हुए 'कुवलयानंद' की परिभाषा को भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है जबकि कुवलयानंद में दीक्षित ने समर्थनीय अर्थ के समर्थन को ही काव्यलिंग कहा है–

---

[72] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 105
[73] चन्द्रालोक, जयदेव, पृ. 172
[74] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 106
[75] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 33

"समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंग समर्थनम्।"[76]

"काव्यलिंग जब जुक्ति सों अर्थसमर्थन होई।"[77]

जसवन्तसिंह ने 'कुवलयानंद' का आधार ग्रहण करते हुए विशेषक का लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार सादृश्य में पुनः विशेष पदार्थ के पार्थक्य का स्फूरित हो जाना ही विशेषक है–

"यहै बिसेस बिसेस पुनि फुरै जु समता मांझ।"[78]

अप्पयदीक्षित का विशेषक अलंकार यों है–

"भेदवैशिष्टययोः स्फूर्तावुल्मीलितविशेषकौ।"[79]

इन दोनों में मुख्य अंतर यही है कि जहां दीक्षित ने सामान्य में भेद–ज्ञान को विशेषक माना है, वहां जसवन्तसिंह ने तो पदार्थों में सादृश्य के होने पर भी पुनः भेद–ज्ञान को विशेषक कहा है। इस प्रकार जसवन्तसिंह संस्कृताचार्य अप्पयदीक्षित से एक कदम आगे हैं।

जसवन्तसिंह ने ऐसी ही स्पष्टता तदगुण अलंकार में दिखलाई है। जसवन्त सिंह ने तद्गुण अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहां पर किसी ऐसी वस्तु का वर्णन हो जो अपने गुण छोड़कर जिसके साथ रहे, इसके गुण ग्रहण करें वहां तद्गुण अलंकार है जबकि अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' में केवल यही कहा गया है–

"तद्गुन स्वगुणत्यागादन्यदीय गुणग्रहः।"[80]

अर्थात् जहां एक पदार्थ अपने गुण को छोड़कर अन्य गुण को ग्रहण कर ले, वहां तद्गुण अलंकार होता है–

"तद्गुन तजि गुन आपनो संगति को गुन लेई।"[81]

जसवन्तसिंह ने 'संगति को गुन लेइ' कहकर वस्तु के सामीप्य का स्पष्ट संकेत किया है, जिसका समावेश 'कुवलयानंद' में नहीं है। अतः इनके लक्षण में आधार ग्रंथ से भी अधिक स्पष्टता है। यह आचार्य जसवन्त सिंह की मौलिक शक्ति का ही परिचायक है। वे प्राचीन अलंकारों के लक्षणों में परिष्कार करते हैं।

---

[76] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 195
[77] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 49
[78] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 58
[79] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृ. 215
[80] वही, पृ 235
[81] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 55

जसवन्तसिंह ने अनुगुण अलंकार का 'चन्द्रालोक' के आधार पर लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका लक्षण 'चन्द्रलोक' की तुलना में सरल एवं स्पष्ट है–

"प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः।"[82]

"अनुगुण संगति ते जबै पूरबगुन सरसाई।"[83]

चन्द्रालोककार के 'प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्ष' से 'पूरब गुण सरसाई' में अधिक सरलता व सुबोधता है। "'भाषाभूषण' में अन्य गुण का समावेश नहीं था, इन्होंने अन्यदीय संसर्ग से पूर्वसिद्ध स्वगुण में वृद्धि होने का वर्णन कर अपने लक्षण को पूर्णता दी है।"[84]

जसवन्तसिंह ने पूर्वरूप अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए अपने विवेक का प्रयोग किया है जिसके कारण मूल ग्रन्थों से इसमें भिन्नता आ गयी है। जसवन्त सिंह ने लक्षण दिया है–

"पूर्वरूप ले संग गुन तजि फिरि अपनो लेत।"[85]

"पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।"[86] (चन्द्रालोक)

जसवन्तसिंह ने 'चन्द्रालोक' का अनुकरण करते हुए भी उसमें समीपवर्ती पदार्थ के गृहीत गुण के त्याग की बात जोड़ दी। इसके अनुसार यदि कोई पदार्थ समीपस्थ वस्तु के गुण को ग्रहण कर उसका त्याग कर दे एवं पुनः अपने गुण को ग्रहण करे तो पूर्वरूप होगा। इन्होंने जयदेव के विचार को अधिक स्पष्टता प्रदान की है।

इसी प्रकार की प्रतिभा जसवन्तसिंह ने प्रतीप अलंकार में दिखाई है जहां उन्होंने प्रतीप की परिभाषा कुवलयानंद के आधार पर न देकर अपने ढंग से प्रस्तुत की है। उपमेय का उपमान होना ही प्रतीप है। यद्यपि लक्षण में किसी प्रकार का अंतर नहीं आता किन्तु बात को भिन्न ढंग से उपस्थित किया गया है।

जसवंतसिंह की एक विशिष्टता यह है कि उन्होंने 'भाषाभूषण' में लक्षणों के जो उदाहरण रखे हैं इनमे से अधिकतर मौलिक हैं। वे हमे यत्र–तत्र बिखरे हुये मिल जायेंगे। इन्होंने इन उदाहरणों में अधिकतर शृंगारिक उदाहरण ही दिये हैं। तत्कालीन सामन्ती परिवेश को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि इस काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में शृंगारिकता को उपयुक्त स्थान मिले

---

[82] चन्द्रालोक, जयदेव, पृ. 209

[83] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 57

[84] अलंकारों का ऐतिहासिक विकास, राजवंशसहाय हीरा, पृ. 779

[85] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 56

[86] चन्द्रालोक, जयदेव, पृ. 207

और संयोग से इस ग्रंथ की रचना करने वाले भी महाराजा थे, जो स्वयं इन सामन्ती भोग विलासों में निम्मज्जित थे। यह बात भी नहीं है कि इसमें केवल शृंगार के उदाहरण ही हैं, इस ग्रंथ के रचनाकार महाराजा थे जो स्वयं वीर थे तथा कई युद्धों में भाग लिया था और उपयुक्त नेतृत्व किया था, इन्होंने लक्षणों के उदाहरणों में कहीं–कहीं इसी वीरता को स्थान दिया है–

"बान न पहुंचे अंग लौं अरि पहिले गिरि जाहिं।"[87]

इन वीर रसात्मक उदाहरणों के अलावा इन्होंने भक्तिरस के भी उदाहरण रखे हैं जिसके विषय में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं कि "भाषाभूषण में सभी उदाहरण शृंगार के नहीं हैं, शपथ लेने भर के लिए दो चार भक्ति के भी हैं।"[88] यथा–

"विष रखत है कण्ठ सिव आप धरयो इहिं हेत।"[89]

'भाषाभूषण' में आचार्य जसवंतसिंह ने 'कुवलयानन्द' से छायानुवाद किया है, कहीं–कहीं मौलिकता भी है, लेकिन वे छायानूदित उदाहरण मूल से अधिक सरस व सरल है, पाठक के हृदय व मस्तिष्क में शीघ्रता से जगह बना लेते हैं। ओमप्रकाश इनका विश्लेषण करते हुए कहते हैं– "अलंकारों के उदाहरण अनुवाद मात्र नहीं है, वे छायानुवाद है और कहीं–कहीं स्वतंत्र। छायानुवाद का कारण यह जान पड़ता है कि लेखक अपने पाठक को शृंगार का सामान्य परन्तु शिष्ट उदाहरण बतलाना चाहता था जिससे उनको स्मरण रखना अधिक संभव हो सके– मूल की अपेक्षा छाया सदैव सरस, मधुर तथा आकर्षक है। भाषाभूषण के उदाहरण ही लेखक की प्रतिभा का ठीक–ठाक परिचय दे सकते हैं।"[90]

भाषाभूषण में शब्दालंकार

संस्कृत आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ और जयदेव आदि ने शब्दालंकारों को अर्थालंकारों से उच्च स्थान देते हुए उनका वर्णन किया। तत्पश्चात् अप्पयदीक्षित ने शब्दालंकारों को छुआ तक नहीं, उन्होंने केवल अर्थालंकारों पर अपनी लेखनी चलाई। वैसे भी हिन्दी के भी पुराने आचार्य शब्दालंकारों को लेकर उतने उत्साहित नहीं रहे, जितने संस्कृत आचार्य थे। जसवन्तसिंह ने भी

---

[87] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 27

[88] हिन्दी साहित्य का अतीत, शृंगारकाल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 156

[89] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 33

[90] हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम प्रकाश, पृ. 89

ग्रंथ के समापन स्थल पर उतरार्द्ध में शब्दालंकारों का चलते–चलते वर्णन कर दिया है। इन शब्दालंकारों में भी इन्होंने केवल अनप्रास अलंकार को तरजीह दी है। इन्होंने छः शब्दालंकारों का विवेचन किया है जो सभी अनुप्रास ही है। इन्होंने अनुप्रास को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए यमक को भी अनुप्रास में परिभाषित कर दिया है। अनप्रास के छः भेद हैं– छेकानप्रास, लाटानुप्रास, यमकानुप्रास, उपनागरिका, वृत्यनुप्रास, परूषावृत्यनुप्रास और कोमला वृत्यनुप्रास। वस्तुतः इन छः भेदों को चार ही मानना चाहिए क्योंकि उपनागरिका वृत्यनुप्रास, परूषा वृत्यनुप्रास और कोमल वृत्यनुप्रास ये वृत्यनुप्रास अलंकार के ही तीन भेद हैं, जिन्हें मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ में वर्णन किया है।

जसवन्तसिंह ने छेकानुप्रास अलंकार का उल्लेख मम्मट और विश्वनाथ से प्रभावित होकर किया है। निम्नलिखित 'काव्य प्रकाश' की कारिका और 'भाषाभूषण' के दोहे में तुलना दृष्टव्य है–

"एकस्य अविशब्दादनेकस्य व्यज्नस्य द्विर्वतु कृत्वो वासादृश्यं वृत्यनुप्रासः"[91]

"आवृति बरन अनेक की दोई दोइ जब होई"[92]

मम्मट ने अनुप्रास के दो भेद माने थे– छेकगत एवं वृतिगत। जसवन्तसिंह ने वृतिगत अनुप्रास का प्रभाव ग्रहण कर छेकानुप्रास की परिभाषा प्रस्तुत की है। जसवन्तसिंह ने जयदेव से प्रभाव ग्रहण नहीं किया है। इसी प्रकार छेकानुप्रास अलंकार के अगले चरण में 'साहित्यदर्पण' की छाया परिलक्षित होती है। 'साहित्यदर्पण' के 'वैषम्येऽपि स्वरस्ययत' से 'सुर समता बिनहू' बना है। इस प्रकार पूरा दोहा बन जाता है–

"आवृति बरन अनेक की दोई दोई जब होई।
है छेकनुप्रास सुर समता बिनहू सोई।।"[93]

जसवन्तसिंह लाटानुप्रास अलंकार का वर्णन करते हुए जयदेव, मम्मट आदि से प्रभावित हुए हैं। जसवंतसिंह ने पद की आवृति 'चन्द्रालोक' से ग्रहण की है तो 'शब्द अर्थ के भेद सों भेद बिनाहू सोई' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' की निम्नलिखित कारिका की छाया है–

'शब्दार्थयोर भेक्षेऽप्यन्तयमात्रा भेक्षात्'[94]

---

[91] काव्यप्रकाश, मम्मट, पृ. 337
[92] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 65
[93] वही, पृ. 65

जसवन्तसिंह ने यमकानुप्रास का मम्मट के लक्षण का भावानुवाद किया है, किन्तु इनकी परिभाषा अत्यंत सरल और संक्षिप्त है –

"जमक सब्द को फिरी श्रवन अर्थ जुदैं सो जानि।
अर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"[95]

जसवन्तसिंह ने 'काव्य प्रकाश' के 'अर्थसति' वाले अंश को ग्रहण नहीं किया है। ओमप्रकाश कहते हैं – "इस लक्षण में एक मौलिकता है– शब्द का फिर से सुनाई पड़ना और (इस फिर सुनाई देने में) अर्थ भिन्न होता है। जो 'अर्थेसत्यर्थ भिन्नानाम्' काव्य प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं रहने देती।"[96] लेकिन ध्यान से काव्य को पढ़ने से पता चलता है कि 'अर्थभिन्नानाम्' 'भाषा भूषण' के 'अर्थ जुदे' के लिए आया है अतः 'अर्थ भिन्नानाम्' का कथन न किया जाये तो अधुरा लक्षण होगा।

'भाषाभूषण' में वृत्यनुप्रास अलंकार को शब्दालंकारों में सबसे अन्त में लिखा है जबकि जयदेव आदि संस्कृताचार्य इसी लाटानुप्रास से पूर्व स्थान देते हैं। 'चन्द्रालोक' और 'साहित्यदर्पण' में इसकी तीन वृत्तियों को नहीं बतलाया गया है। जसवन्तसिंह ने 'काव्य प्रकाश' का आलम्बन लेकर इनकी तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम इन्होंने वृत्यनुप्रास अलंकार की परिभाषा दी है–

'प्रति अक्षर आवृति बहु' – इस पर 'काव्य प्रकाश' का प्रभाव है–
'एकस्याप्यसकृत्परः'[97]

इसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति का लक्षण है –

"मधुर वचन जाने सवै उपनागरिक जानि।" [98]
"माधुर्य व्यंजकैवर्णरूपानागरिकोच्यते।"[99]

इस प्रकार अलंकारों का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि अर्थालंकारों पर जयदेव तथा अप्पयदीक्षित का अधिक प्रभाव है लेकिन शब्दालंकारों पर जयदेव का नहीं हैं बल्कि मम्मट तथा अन्य संस्कृत आचार्यों का प्रभाव पड़ा है। अर्थालंकारों को देखने से 'भाषाभूषण' को 'चन्द्रालोक' की अपेक्षा 'कुवलयानंद' की भाषा छाया कहा जाय तो अधिक युक्ति संगत जान पड़ता है।

---

[94] काव्यप्रकाश, मम्मट, पृ. 337
[95] वही, पृ. 339
[96] हिन्दी अलंकार साहित्य, ओम प्रकाश, पृ. 80
[97] काव्यप्रकाश, मम्मट, पृ. 336
[98] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 67
[99] वही, पृ. 337

संस्कृत काव्यशास्त्र हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रेरणा स्रोत रहा है, हिन्दी काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आश्रय में अपने ग्रन्थों का नीति निर्धारण किया। इसलिए इनके ग्रन्थों में मौलिकता का समावेश नहीं हो सका संस्कृत काव्यशास्त्र के उन अंग–उपांगों की जो गूढ़ विवेचना और तर्कसम्मत धारणाएं संस्कृत साहित्य में प्राप्त होती है वे सभी हिन्दी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलती। संस्कृत आचार्यों ने जो नायक–नायिका भेद का नीति निर्धारण किया है जो लक्षण निरूपण किया है वही हिन्दी काव्यशास्त्र में भी प्रचलित है। हाँ कही पर किसी आचार्य ने अपनी मौलिक शक्ति के वशीभूत होकर किसी नायिका की संख्या बढ़ा दी तो कहीं पर नायिकाओं के नये नाम प्रस्तुत कर दिये। फिर भी हिन्दी आचार्य संस्कृत आचार्यो के प्रभाव से असंपृक्त नहीं रह पाये।

आचार्य जसवन्तसिंह ने भी 'भाषाभूषण' के अग्रभाग में द्वितीय प्रकाश में नायक नायिका भेद का वर्णन किया हैं। इनके नायक–नायिका भेद पर आचार्य केशव की रसिकप्रिया, भानुदत की रसमंजरी, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण आदि का प्रभाव ग्रहण करते हुए नायक–नायिका भेद के यत्किंचित लक्षणों को स्पष्ट किया है साथ ही इन्होंने अत्यंत संक्षिप्त रूप से उदाहरणों में स्पष्ट भी कर दिया है।

आचार्य जसवन्तसिंह ने सर्वप्रथम नायक भेद का वर्णन किया है जिसमें उन्होंने नायक के चार भेद किये हैं– अनुकूल नायक, दक्षिण, शठ और धृष्ट नायक। भारतीय संस्कृति और पारिवारिक जीवन की दृष्टि से अनुकूल नायक को सर्वश्रेष्ठ नायक माना जाता है। आचार्य केशव और मतिराम ने अपने ग्रन्थों में विधि–निषेध वाली परम्परा को ग्रहण करते हुए अनुकूल नायक का वर्णन किया है जबकि जसवन्तसिंह ने विश्वनाथ और धनंजय की परम्परा को स्वीकार करते हुए विधि सापेक्ष पर बल दिया है– वे 'भाषाभूषण' में अनुकूल नायक का वर्णन करते है–

"एक नारि सौं हित करै सो अनुकूल बखानि"[100]

धनंजय ने 'दशरूपक' ग्रन्थ में अनुकूल नायक का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

"ऽनुकूल स्त्वेक नायिकः।"[101]

धनंजय के अनुसार दक्षिण नायक अपनी पूर्व नायिका तथा पत्नी दोनों से ही प्रेम करता है। धनंजय ने ऐसे नायक को सहृदय की संज्ञा दी है –

---

[100] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 6

[101] दशरूपक, धनंजय, सं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 120

"दक्षिणोऽस्यां सहृदयः।"[102]

रूपगोस्वामी दक्षिण नायक का इस प्रकार वर्णन करते हैं –

"यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति।
न मुंचत्यन्य चितोऽपि ज्ञेयोऽसौ खलुदक्षिणः।।"[103]

हिन्दी आचार्य केशव ने दक्षिण नायक के मानसिक संघर्ष का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है–

"पहिले सो हिय हेतु डर, सहज बड़ाई कानि।
चित चलेहूँ ना चलै दच्छिन लच्छन जानिं।"[104]

जसवन्तसिंह ने सम और दक्षिण नायक उसे कहा है जो बहुत सारी स्त्रियों से प्रेम करता होः–

"बहु नारि सौ प्रीति सम ताकौ दक्षिण जानि।"[105]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहां उन्होंने धनंजय, रूपगोस्वामी एवं केशव आदि की भांति पूर्व पत्नी प्रेम एवं भय और मर्यादा की बात का उल्लेख नहीं किया है।

धनंजय के अनुसार छिपे ढ़ग से जो दूसरी नायिका से प्रेम–व्यवहार करता है उसे शठ नायक कहते हैं–

"गूढविप्रियकृच्छठः।"[106]

आचार्य विश्वनाथ के विचार धनंजय के समान ही है। रूपगोस्वामी के अनुसार शठ नायक–

"प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रयं कुरुते भृशम् ।
निगूढमपराधं च शठोऽयं कचितो बुधैः।।"[107]

मतिराम ने शठ नायक को अपराध से न डरने वाला अपराधी, कपट की प्रीति करने वाला, वचन क्रिया में अति चतुर बताया है–

"डरै करत अपराध नहिं, करे कपट की प्रीति
वचन–क्रिया में अति चतुर शठ नायक की रीति।"[108]

---

[102] दशरूपक, धनंजय, सं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 120
[103] उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, पृ. 36
[104] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 65
[105] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 6
[106] दशरूपक, धनंजय, सं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 119
[107] उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, पृ. 38
[108] मतिराम ग्रंथवली– रसराज, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 307

आचार्य केशव ने इन आचार्यो से भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हुए निपट कपटी, अपराधी, निर्भय और सदैव मीठी बाते करने वाले को शठ नायक कहा है। इस लक्षण में मृदु भाषी होने की बात नितांत नवीन है–

"मुँह मीठी बाते कहै निपट कपट जिय जानिं
जाहि न दुख अपराध को, सठ करि ताहि बखानि।"[109]

शेष लक्षण अन्य अचार्यों के समान ही है। जसवन्तसिंह शठ नायक के लक्षण निरूपण में केशव के अधिक निकट प्रतीत होते हैं–

"मीठी बातें सठ करै करिकै महा बिगार।"[110]

जसवन्तसिंह ने 'करिकै महा बिगार' शब्दो का प्रयोग करके अन्य सभी आचार्यों से भिन्न शठ नायक के लक्षण में नवीनता का समावेश कर दिया है।

आचार्य विश्वनाथ, धनंजय, भानुदत आदि ने धृष्ट नायक के पूर्व लक्षण गिनाए हैं जिनका अनुकरण हिन्दी आचार्यो ने किया है। जो पर स्त्री के साथ रंगे हाथों रति क्रीड़ा करते हुए पकड़े जाने पर भी जिसे कोई अपराध बोध नहीं हो तथा पुनः वही कार्य करता रहे, धिक्कारे जाने पर भी लज्जा न आना आदि लक्षण है। आचार्य केशव ने इन लक्षणों के साथ धृष्ट नायक को गाली और मार की बात कहकर धृष्टता की अति मात्रा दिखाई है–

"लाजन गारिहु मार की, छांडि दई सब त्रास।
देख्यौ दोष न मान ही, धृष्ट सु कहिए तास।।"[111]

जसवन्तसिंह ने केशव की एक बात स्वीकार करते हऐ उसे निलृज्ज अवश्य माना है पर मार पड़ने वाली बात के स्थान पर उसे कोटि–कोटि धिक्कारा (वचनों से) जाने वाला माना है। अतः यहां पर आचार्य जसवन्तसिंह की मौलिकता ही परलक्षित होती है–

"आवति लाज न धृष्ट को किये कोटि धिक्कार।"[112]

इस प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह ने नायक के भेदों का परिगणन करते हुए उसके लक्षणों को अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन कर दिया है।

इसके अनंतर आचार्य जसवन्तसिंह ने पति, उपपति और वैशिक नायक के लक्षणों को स्पष्ट किया है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास को देखते हुए एक स्त्री (पत्नि) में अनुरक्त पति का जो लक्षण जसवन्तसिंह ने दिया है वह सर्वमान्य है क्योंकि हमारी सांस्कृतिक परम्परा यही निर्देशित करती है।

---

[109] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 67
[110] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 6
[111] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 69
[112] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 6

इसके अतिरिक्त आचार्य जसवन्तसिंह ने तत्कालीन भोग विलासमय सामंती वातावरण को देखते हुए उपपति और वैशिक नायक की जो कल्पना की है वह परिस्थितिजन्य है और शास्त्रसम्मत कही जा सकती है। हिन्दी आचार्यों ने वैशिक नायक और उपपति के विषय में कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला हैं। मतिराम ने इसका वर्णन अवश्य किया है:–

"पति, उपपति, वैसिक त्रिविध नायक भेद बखानि।
बिधि सौ ब्याह्यौ सौं पति कह्यो, कवि मतिराम सुजान।।
जो परनारिन को रसिक उपपति ताहि बखानि।
प्रीति करै गनिकान सौ, बैसिक ताकौ जानि।।"[113]

मतिराम का प्रभाव ग्रहण करते हुए जसवन्त सिंह ने भी इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–

"स्वकिया पति सौं पति कहे परनारी उपपति।
बैसिक नायक की सदा गनिका सौ हितरति।।"[114]

आचार्य जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' ग्रन्थ में नायिका–भेद–प्रभेदों का भी वर्णन प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्र में नायिका भेद चार आधारों पर किया जाता है– जाति के आधार पर, सामाजिक बन्धन या कर्म के आधार पर, अवस्था के आधार पर तथा गुण या प्रकृति के आधार पर। आचार्य जसवन्त सिंह ने अपने 'भाषाभूषण' ग्रन्थ में इन चारों ही आधारों को ग्रहण करते हुए इनके लक्षणों पर संक्षिप्त रूप में विचार व्यक्त किये है–

(1) जाति के अनुसार नायिका भेद– जाति अनुसार नायिका भेद संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने स्वीकार किये हैं। कोक पंडित आदि ने पद्मिनी, चित्रिनी, शंखिनी और हस्तिनी आदि भेदों को स्वीकार किया है। वहीं हिन्दी के आचार्यों में सर्वप्रथम केशवदास ने अपनी 'रसिकप्रिया' में इन चार प्रकार की नायिकाओं का चित्रण किया–

"प्रथम पद्मिनी, चित्रिनी, जुवती जाति प्रमान।
बहुरि संखिनी हस्तिनी केसवदास बखान।।"[115]

तत्पश्चात् केशवदास ने इन भेदों को विस्तार में लक्षण उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। केशवदास के परवर्ती आचार्यों ने भी इन भेदों को माना है तब जसवन्तसिंह ने भी 'भाषाभूषण' ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में इनकी चर्चा की है। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार नारी का शारीरिक सौन्दर्य हैं। आचार्य

---

[113] मतिराम ग्रंथावली– रसराज, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 305
[114] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 6
[115] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 71

जसवन्तसिंह ने उपर्युक्त नायिकाओं का नामोल्लेख मात्र किया है, उन्हे लक्षणों के माध्यम से स्पष्ट करने का कष्ट नहीं किया है केवल नाम परिगणन कर दिया है–

"पद्मिनी चित्रिनि संखिनी अरू हस्तिनी बखानि।
बिबिध नायिका भेद में चारि जाति तिय जानि।।"[116]

जसवन्तसिह ने पद्मिनी आदि जो चार भेद किये है वे पूर्वत् लिखित संस्कृत ग्रन्थों और शास्त्रसम्मत है और उत्तरार्द्ध में रीतिकालीन आचार्यो द्वारा उनके गुण–लक्षण गिनाकर 'भाषाभूषण' में उल्लिखित चारों भेदों की पुष्टि कर दी है। अतः केशवदास के पश्चात् आचार्य जसवन्तसिंह ने भेदों का वर्णन कर इस परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

(2) सामाजिक बन्धन या कर्मानुसार नायिका भेद– संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इस रूप में नायिका भेद भी किया है। धनंजय ने स्वकीया, परकीया और सामान्या तीन भेद बताये हैं। रूपगोस्वामी ने भी यही भेद माने हैं। हिन्दी काव्यशास्त्र में केशवदास ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए स्वकीया, परकीया और सामान्या भेद माना–

"ता नायक की नायिका, ग्रंथनि तीनि प्रमान।
स्वीया परकीया अवर स्वीया–परकीया न।।"[117]

मतिराम ने स्वकीया और परकीया मानते हुए तीसरी नायिका का नामकरण गणिका किया है–

"कही नायिका तीनि विधि प्रथम स्वकीया मान।
परकीया पुनि दूसरी गनिका तीनी जान।।"[118]

आचार्य जसवन्तसिंह ने एक ही दोहे में नायिकाओं का नामकरण और उनका लक्षण अत्यंत संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया है–

"स्वकीया ब्याही नायिका, परकीया परबाम।
सो सामान्या नायिका जाकै धन सो काम।।"[119]

आचार्य केशवदास और मतिराम ने नायिका भेद का अलग से लक्षण और उदाहरण रूप में निरूपण किया है। आचार्य जसवन्तसिंह ने स्वकीया के पुनश्च तीन भेद किये है मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। संस्कृताचार्य धनंजय ने स्वकीया के जो तीन भेद किये हैं वे हैं मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा –

---

[116] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 7
[117] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 75
[118] मतिराम ग्रंथावली– रसराज, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 309
[119] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 7

"स्वकीयाश्च परोढायश्च या द्विधा परिकीर्तिताः।
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति प्रत्येकं तास्त्रिधा मताः।।"[120]

मुग्धा– आचार्यों ने मुग्धा नायिका को वय के अनुसार चित्रित किया है। आचार्यों ने मुग्धा के लक्षण अलग–अलग प्रस्तुत किये है। जैसे धनंजय के अनुसार–

"मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।"[121]

इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी मुग्धा के लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसके भेद प्रस्तुत किये हैं। केशवदास ने मुग्धा का लक्षण निरूपण न कर सीधे भेद गिना दिये हैं। मतिराम ने मुग्धा का लक्षण और उदाहरण देते हुए भेदों का परिगणन कर दिया है। संस्कृताचार्यों और केशवदास के मुग्धा–भेद जसवन्तसिंह तथा मतिराम के भेदो से भिन्न हैं। जैसे केशव दास के भेद–

"नवलबधु नवजोबना, नवल अनंगा नाम।
लज्जा किये जुरति करै, लज्जा प्राय सुबाम।।"[122]

वहीं मतिराम के मुग्धा भेद–

"मुग्धा के द्वै भेद बर भाषत सुकवि सुजान।
एक अग्यातहि जौबना, ग्यात जौबना आन।।"[123]

अब जसवन्तसिंह का मुग्धा भेद देखिए जो इससे मिलता–जुलता है–

"बिन जाने अज्ञात है जाने जोबन ज्ञात।
मुग्धा के द्वय भेद में कवि सब बरणत जात।।"[124]

आचार्य जसवन्तसिंह ने भी मुग्धा का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है।

मध्या– मुग्धा के विकास की यह मध्य स्थिति है। इस अवस्था में नायिका का यौवन और उसका काम अधिक परिपक्व हो जाते हैं। मुग्धा नायिका में जहां यौवन और काम लज्जाधिक्य के कारण छिपे रहते हैं वहां मध्या नायिका अब अपने यौवन से पूर्णतः परिचित हो जाती है। मध्या का लक्षण मतिराम और जसवन्तसिह का बहुत समान है।

"जाकै तन मै होत हे लाज–मनोज समान।
ताको मध्या कहत है कवि मतिराम सुजान।"[125]
"मध्या सो जामै दोउ लज्जामदन समान।"[126]

---

[120] उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, पृ. 107
[121] दशरूपक, धनंजय, सं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 125
[122] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ. 75
[123] मतिराम ग्रंथावली– सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 7
[124] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 7
[125] मतिराम ग्रंथावली– सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 258

प्रौढ़ा – प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायिका उसे कहा गया है जो प्रेम में निष्णात और काम कला में निपुण होती है। उसमें यौवन और काम अपने चरम पर पहुँच जाते है तथा अंधता की स्थिति आ जाती है–

"अति प्रवीन प्रौढ़ा वहै जाकै पिय में प्रान।"[127]

(3) अवस्था (दशा) भेद के अनुसार वर्गीकरण– काव्य शास्त्र में अवस्था विशेष के अनुसार नायिकाओं के अनेक भेदोपभेद लिये गये है। धनंजय ने आठ प्रकार माने हैं, रूपगोस्वामी ने भी आठ प्रकार माने हैं–

"अथावस्थाष्टकं सर्वनायिकानां निगद्यते।
तत्राभिसारिका वाससज्जा चोत्कंठिता तया।।
खण्डित विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि।
प्रोषितप्रेयसी चैव तथा स्वाधीनभर्तृका।।"[128]

रीतिकालीन आचार्यों केशव, मतिराम आदि ने भी आठ भेदों को ही स्वीकार किया है। जसवन्तसिंह ने भी आठ भेद ही स्वीकार किये हैं और इनके लक्षण बताए हैं। संयोगवस्था में इन्होंने तीन अतिरिक्त भेदों का उल्लेख किया है, वे हैं– प्रवत्स्यत्पतिका, रूपगर्विता तथा दुखिता। इनके अतिरिक्त परम्परानुसार जिन अष्ट नायिकाओं का वर्णन किया जाता है उनमें भी तीन संयोगावस्था से सम्बन्धित है– स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा और अभिसारिका। शेष– उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, खंडिता और प्रोषितपतिका वियोगावस्था से सम्बन्धित है। इस प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह ने संयोगावस्था की नायिकाओं के छः भेदों का वर्णन किया है जिसमें से प्रवत्स्यत्पतिका, रूपगर्विता और दुखिता परम्परा से भिन्न अतिरिक्त भेद है जिनका रीतिकालीन आचार्यों ने उस ओर कोई संकेत नहीं दिया है। इस दृष्टि से उनका ये लक्षण निरूपण मौलिक उद्‌भावना का परिचायक है। इस प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह ने परम्परा का निर्वाह करते हुए भी भिन्न मार्ग का अनुसरण कर अपनी मौलिक शक्ति का परिचय दिया है।

जसवन्त सिंह ने 'भाषाभूषण' की रचना काव्य रसिकों के लिए की है इसलिए उन्होंने इसमें रस का विवेचन भी संक्षिप्त रूप में कर दिया है। संक्षिप्त इसलिए क्योंकि इन्होंने रस को विस्तार के साथ प्रस्तुत नहीं किया बल्कि केवल नाम परिगणन कर दिया है। इन्होंने शांत रस को मान्यता प्रदान करते हुए कुल नौ रसों का उल्लेख किया है लेकिन इन नौ रसों के स्थायी भावों

---

[126] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 7
[127] वही, पृ. 7
[128] उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, पृ. 132

का उल्लेख करते समय केवल आठ स्थायी भाव बताये हैं। शांत रस के स्थायी भाव का उल्लेख नहीं किया है–

"गनि सिंगार अरू हास पुनि करूना रुद्रहि जानि।
बीर भयरू बीभत्स कहि अद्भुत सांत बखानि।।
रति हांसी अरू सोक पुनि क्रोध उछाह रू भीति।
निंदा बिस्मय आठ ये स्थायी भाव प्रतीति।।"[129]

तत्पश्चात् जसवन्तसिंह ने उद्दीपन, अनुभाव, आलम्बन तथा तैंतीस संचारी भावों का उल्लेख कर दिया है। इन्होंने इनको परिभाषित भी किया है तथा तैंतीस संचारी भावों का नामोल्लेख भी किया है। आचार्य जसवन्तसिंह ने उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हुए आचार्य केशवदास की तुलना में अधिक स्पष्टता दिखाई है–

"जिनतें दीपति होति है, ते उद्दीप्त बखानि।"[130] (रसिक प्रिया)
"जो 'रस' की दीपति करै उद्दीपन है सोई।"[131] (भा॰ भू॰)

आचार्य केशवदास ने केवल यही कहा कि जिनसे दीप्ति होती है वही उद्दीपन है जबकि आचार्य जसवन्तसिंह ने लिखा कि जो रस को प्रकाशित करे वही उद्दीपन है। इस प्रकार जसवन्तसिंह ऐसे आचार्य है जिन्होंने स्थायी भाव के स्थान पर 'रस' का उल्लेख किया है और उसके अनुभव को ही 'अनुभाव' कहा है–

"सो अनुभाव जु उपजै रस के अनुभव होई।"[132]

परवर्ती काल में इसका अनुसरण सोमनाथ ने किया।

जसवन्तसिंह ने तीसरे प्रकाश के आरंभ में आठ प्रकार के सात्विक भावों का उल्लेख किया हैं आचार्य जसवन्तसिंह ने इन आठ सात्विक भावों को परिभाषित न कर केवल एक दोहे में नाम परिगणन कर दिया है। इसके पश्चात् आचार्य जसवन्तसिंह ने दस हावों का लक्षण सहित उल्लेख किया है। इन हावों के अंनतर संयोग शृंगार में दम्पति के तन की विविध चेष्टाओं का विश्लेषण किया है। पति–पत्नी जब रतिसुख में लीन रहे तब वहाँ लीला हाव समझना चाहिए और जहाँ लाज के वशीभूत होकर प्रिया मौन धारण कर ले वहाँ विह्वित भाव होता है

"प्रिय प्यारी रतिसुख करैं लीला हाव सु जानि।

---

[129] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 15
[130] रसिकप्रिया, केशवदास, पृ.
[131] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 15
[132] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 15

बोलि सकैं नहीं लाज तें विह्वित हाव बखानि।।"[133]

इसी प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह ने विलास, ललित, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, कुट्टमित, मोटायत, विब्बोक आदि हावों के लक्षणों को दोहों में स्पष्ट कर दिया है। जसवन्तसिंह ने रस के इन अवयवों का चित्रण मात्र शृंगार रस को दृष्टिगत रखकर किया है। हाव–भावादि का विवेचन नायिका को दृष्टिगत रखकर ही किया है। महाराजा की इस विवेचना का कारण तत्कालीन सामन्ती परिवेश तथा शृंगारिक वातावरण का होना है। आचार्य जसवन्तसिंह ने संयोग शृंगार के विवेचन में आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, हाव आदि का तो चित्रण किया लेकिन विप्रलंभ के चार भेदों– पूर्वानुमान, करूणा, मान एवं प्रवास की कहीं चर्चा नहीं की है। आचार्य जसवन्तसिंह ने विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत आने वाली दस अन्तर्दशाओं में से नौ का चित्रण कर संक्षेप में उनका नामोल्लेख कर दिया है। दसवीं अन्तर्दशा मरण है जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में अपशकुन मान कर उसका चित्रण नहीं किया जाता। अतः आचार्य जसवन्तसिंह ने भी 'मरण' को छोड़कर अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण–कथन, उद्वेग, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और उन्माद का विवेचन कर दिया है।

इस प्रकार तृतीय प्रकाश में रस विवेचन की वस्तु सामग्री को देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें महाराजा की आचार्यत्व शक्ति के साथ–साथ उनकी कवित्व शक्ति का बोध भी हो जाता है। विशेषकर हाव आदि के विषय में उन्होंने जो लक्षण निरूपण किया है उसमें उनका सहृदय उभर कर सामने आया है। रस विवेचन के इस प्रसंग में इन्होंने क्रमानुगत चित्रण नहीं किया है। जैसे सात्विक भावों का उल्लेख इन्होंने प्रारंभ में कर दिया है तो रस के मूल अवयव तथा स्थायी भावों को मध्य में तरजीह दी है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत हावों का तथा वियोग शृंगार के नौ अन्तर्दशाओं का चित्रण पहले कर दिया है। इससे क्रम भंग का दोष परिलक्षित होता है। फिर भी आचार्य जसवन्तसिंह ने रीतिकालीन परिपाटी को अख्तियार करते हुए श्लाघनीय प्रयत्न किया है। जसवन्तसिंह का आलंकारिक ग्रंथ 'भाषाभूषण' एक उत्कृष्ट काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें आचार्य ने अलंकारों के साथ–साथ नायक भेद, रस विवेचन भी किया है। इन्होंने रीतिकालीन परीपाटी पर चलते हुए अपनी मौलिकता को भी अक्षुण्ण बनाये रखा है।

'भाषाभूषण' की सराहनीय विशेषता यह है कि ये अपने परवर्ती रीतिकालीन रचनाकारों का आधार स्तम्भ बना। इन रचनाकारों में भिखारीदास, सोमनाथ, प्रतापसाहि आदि प्रमुख रहें हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि यह

---

[133] वही, पृ. 12

विद्यार्थियों की पाठ्यपुस्तक के रूप में भी कई वर्षों तक पढ़ाई जाती रही है। जब भाषाभूषण पाठ्य पुस्तक के रूप में सम्मिलित थी तब इसके ऊपर टीकाएँ लिखने की परम्परा रीतिकाल के उतरार्द्ध में ही आंरभ हो गयी थी। सर्वप्रथम टीका लिखी गई थी 1741 ई॰ में और उसको लिखने वाले ये दलपति राय तथा बंशीधर। दूसरी टीका 'रहस्य प्रकाशिका' (1771 ई॰) की रचना नारायण दास ने की थी। तीसरी टीका हरि, हरिदास और हरिचरण दास नामक रचनाकारों ने 1777 ई॰ में 'चमत्कार चन्द्रिका' लिखी। प्रतापसाहि कृत 'अलंकार चिंतामणि' टीका भी प्रसिद्ध है। कविराव गुलाब सिंह की 'भूषणचन्द्रिका' (1873 ई॰) 'भाषाभूषण' की टीका है। विजय सिंह कृत 'भाषाभूषण सटीक' (1715–1735 के आस पास), राजा रणधीर सिंह कृत 'भूषण कौमुदी' टीका (1837 ई॰) उसके अतिरिक्त एक अन्य टीका 'भाषा–भूषण' (1949) गुलाबराय एम॰ ए॰ द्वारा भी लिखी गयी है।

इस प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण' ग्रंथ कितना लोकप्रिय रहा है उसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि रीतिकाल से आधुनिक काल तक इसकी टीकाएँ लिखी गयी हैं।

अध्याय – तृतीय

रीतिकालीन संवेदना और भाषाभूषण

क. आचार्यत्व

ख. शृंगार

ग. भक्ति

घ. वीरता

जसवन्तसिंह ने रीतिकाल के पूर्वार्द्ध में अपना रचनाकर्म प्रारंम्भ किया। रीतिकाल में जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' में आचार्यत्व, भक्ति, शृंगार और वीरता की प्रवृति को लक्षित किया जा सकता है।

जसवन्तसिंह को रीतिकाल का प्रधान आचार्य माना जाता है।[1] और इनकी भक्ति बहुदेववाद को प्रतिष्ठित करती है। शृंगार और वीर रस के अत्यन्त सरस एंव ओज पूर्ण इनकी कविताओं को भी रीतिकालीन पृष्ठभूमि में रखकर देखने की कोशिश की जा सकती है।

(क) आचार्यत्व

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) में अनेक रीति ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। संस्कृत साहित्य में रीति काव्यांगों पर संस्कृत आचार्यों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया, वही सिद्धान्त और परम्परा हिन्दी रीतिबद्ध कवियों ने ग्रहण किया और यह परम्परा अक्षरशः पूरे रीतिकाल में प्रचलित रही। सबसे अहम तथ्य यह है कि इन रीति–काव्यांगों पर जिसने भी लेखनी चलाई वह द्वि–पथगामी थे अर्थात वह रीति काव्यांग–निरूपण करने के साथ–साथ काव्य–कर्म भी करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी रीति कवि आचार्य और कवि दोनों ही थे। न वे कवि कर्म छोड़ कर आचार्यत्व को कायम रखते हुए सिद्धान्त–निरूपण कर सकते थे और न ही आचार्यत्व का मोह छोड़ कर मात्र कवि बने रह सकते थे। रीतिकालीन कवि कविता के द्वारा ही राजदरबार में अपना अस्तित्व बनाये रख सकते थे, इनका वजूद कविता कर्म पर ही निर्भर था। लक्षण–निरूपण तो उस समय की मांग थी। लक्षण–निरूपण के द्वारा ही कोई भी कवि अपनी बुद्धिमता का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सकता था। रीतिकाल में इतने बड़े पैमाने पर रीतिग्रन्थों का प्रणयन इसी बौद्धिक–प्रदर्शन का नतीजा था।

बड़े आश्चर्य की बात है कि रीतिकाल में रीति–ग्रन्थों का इतने विशाल स्तर पर प्रणयन हुआ किन्तु रीतिकालीन इन आचार्य–कवियों ने कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की। एक ही ढ़र्रे पर चलते हुए इन्होंने संस्कृत ग्रन्थों को अपना उपजीव्य–ग्रन्थ बनाते हुए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया। जिन आचार्यों ने थोड़ा बहुत मौलिक लक्षण देने का प्रयास किया भी है तो ये भी मौलिकता केवल अलंकारों के नामों में है जो कि घूमकर उन्ही संस्कृत ग्रन्थों में भिन्न नाम से मिल जायेंगे। जैसे 'भाविक–छवि' अलंकार की नवीन कल्पना निरर्थक है क्योंकि इसका अन्तर्भाव 'भाविक' में ही हो जाता है। भिखारीदास द्वारा आविष्कृत नवीन अलंकार "संम्भावनातिश्योक्ति" सम्बंधातिशयोक्ति ही है

---

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल – पृ. 173

और कुछ नहीं। केशवदास द्वारा निरूपित रूपकालंकार के भेद– अद्‌भुत, विरुद्ध और रूपकातिरूपक नितान्त असंगत है। हिन्दी रीति आचार्यों ने शब्दालंकारों से शब्द–शक्तियों आदि को प्रायः छोड़ ही दिया है। कुछ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण भ्रामक दिये गये है। जैसे– भ्रम, संदेह स्मरण आदि। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है–" जो लोग दास जी के दस और हावों के नाम लेने पर चोंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि 'साहित्यदर्पण' में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार 18 कहे गये है–लीला विलास, विच्छिति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृत, मद, तपन, गोग्न्ध्य, विक्षेप, कुतुहल, हसित, चकित आदि के भी। इनमें से अंतिम आठ को लेकर यदि दास जी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में जोड़ दिया तो क्या नयी बात की?"[2]

इस प्रकार हिन्दी रीति आचार्यों ने कोई मौलिक अवदान प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, इतना योगदान अवश्य दिया है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इन्होंने मौलिकता का प्रदर्शन इसलिए भी नहीं किया कि इन्होंने जिन रीति ग्रन्थों का निर्माण किया वे सब शिक्षा प्रदान करने के लिए लिखे गये थे। ये कवि राजा महाराजाओं के पुत्रों, गणिकाओं, राजदरबारियों, मंत्रियों आदि काव्य रसिको को शिक्षा देने के लिए इन ग्रन्थों का प्रणयन किया। केशवदास ने 'कविप्रिया' की रचना अपने आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह की प्रेयसी व गणिका 'प्रवीणराय' को शिक्षा देने के लिए की थी। इसलिए रीति–ग्रन्थों के ये निर्माता 'कवि–शिक्षक' के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। डॉ महेन्द्र कुमार के शब्दों में कहा जा सकता है कि "इस युग के समस्त रीति कवियों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए किया है। अतएव सुबोधता, सुकण्ठता और सरसता का ध्यान रखते हुए ही इनमें संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न शैलियों का अनुकरण किया गया है। इस संबन्ध में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि रीति–निरूपण के लिए इस काव्य में सामान्यतः ध्वनि–परवर्ती परम्पराओं के उन्हीं संस्कृत ग्रन्थों को आधार बनाया गया है जो विवेचन की व्यवस्था और सुबोधता के कारण एक प्रकार से पाठ्य ग्रन्थ बन चुके थे। इनके भीतर दिये गये लक्षणों का ब्रजभाषा में अनुवाद करने का ही इन लोगों ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार इन लोगों ने आचार्य–कर्म की अपेक्षा कवि–शिक्षक के कर्म का ही निर्वाह किया है।"[3]

---

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल – पृ. 195

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास सं. डॉ० नगेन्द्र, लेखक डॉ० महेन्द्र कुमार – पृ. 305

इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी रीति कवियों के समक्ष नवीन उदभावना के लिए अवकाश नहीं रह गया था, हाँ वे केवल इन काव्यांगों का विस्तार करने के लिए अवश्य स्वतंत्र थे लेकिन खेद की बात है कि इनका ये विस्तार भी तर्कपूर्ण ढंग से नहीं कर पाये। लेकिन इन कवियों ने काव्यांगों का सुबोध ज्ञान प्राप्त करने योग्य ग्रन्थों का प्रणयन करने का लक्ष्य रखा जिसमें इनको पूर्णतः सफलता मिली।

रीतिकाल में जिन लोगों ने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे थे वे मूलतः कवि थे। इन्होंने कवि–कर्म के साथ–साथ संस्कृत पाठक के लिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निरूपण भी किया। आर्चाय रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम यह कहा कि "हिन्दी में लक्षण ग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैंकड़ों कवि हुए है। वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्य के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य शास्त्र का सम्यक बोध कराने में असमर्थ है।"[4] इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व का निषेध कर उन्हें 'कवि' पद का ही अधिकारी माना है। इसका वे कारण स्पष्ट करते हुए कहते है–" आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन या पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक ही दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन–मण्डन, नये–नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी नहीं हुआ।"[5]

रीतिकालीन कवियों ने काव्यांगों पर ग्रन्थ लिख कर अपनी कवित्व–शक्ति का तो खूब प्रदर्शन किया किन्तु वे आचार्य पद के प्रतिभागी नहीं बन सकें। आचार्य शुक्ल के सुर में सुर मिलाते हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते है–" हिन्दी के ये कर्ता, कर्ता ही थे आचार्य नहीं। अर्थात इन्होंने शास्त्रीय विचार–विमर्श के लिए रीति ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया प्रत्युत अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए उसका अवलम्ब लिया।"[6]

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि रीतिकाल में कोई ऐसा व्यक्ति हुआ ही नहीं जो आचार्य पद का प्रतिभागी नहीं बन सके। रीतिकाल में जयदेव के 'चन्द्रालोक' की छाया लेकर बनाया हुआ ग्रंथ 'भाषाभूषण' के रचयिता जसवन्तसिंह ही हैं जो आचार्य पद के अधिकारी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० शुक्ल – पृ. 167
[5] वही, पृ. 167
[6] हिन्दी साहित्य का इतिहास अतीत दूसरा भाग, – पृ. 54

इन्हें हिन्दी के प्रधान आचार्यों की श्रेणी में मानते है। वे 'भाषा–भूषण' तथा इनके विषय में लिखते है– "इस ग्रन्थ को इन्होंने वास्तव में आचार्य के रूप में लिखा है, कवि के रूप में नहीं।..... रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण ग्रंथ लिखने वाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्धेश्य से ही वे ग्रन्थ लिखे थे, न कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराजा जसवंत सिंह जी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य की हैसियत से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आयें, कवि की हैसियत से नहीं।"[7]

जसवंतसिंह को आचार्य कहने का प्रयोजन यह है कि इन्होंने अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह कोई शृंगारिक रचनाएं नहीं की और न ही मुक्तक काव्यों की रचना की। इनके अन्य ग्रन्थ तत्व–ज्ञान सम्बन्धी है जिसमें कोई पद्य में तो कोई गद्य में लिखी गयी है। और खास बात यह है कि अन्य रीतिकालीन कवियों जैसे मतिराम, भूषण, भिखारीदास, चिन्तामणि ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करते हुए काव्यांगों के लक्षण देने के पश्चात उदाहरण रूप कोई दोहा या सवैया रख देते थे अर्थात लक्षण की पुष्टि उस सवैया के द्वारा कर दी जाती थी जबकि आचार्य जसवन्तसिंह ने एक ही दोहे में पहली पंक्ति में लक्षण तथा दूसरी पंक्ति में उदाहरण दिया है। जसवन्तसिंह किसी–किसी काव्यांगों की चर्चा करते समय उदाहरण भी नहीं देते थे। निम्नलिखित लक्षण और उनके उदाहरण में हमें रीतिकालीन कवित्व–शक्ति का बोध हो जाता है–

मुग्धा–लक्षण

"अभिनव–यौवन–आगमन, जाके तन में होय।
तासों मुग्धा कहत है, कवि–कोबिद सब कोय।।"[8] (मतिराम)

उदाहरण

"नैक मंद मधुर कपोल मुसिक्यान लागे,
नैक मंद गमन गयंदन की चाल भौ;
रंचक न ऊँचो लगो अंचल उरोजन के,
अंकुरनि बंक–दीठि नेक सो बिसाल भौ;।
'मतिराम' सुकवि रसीले कछु बेन भये,
बदन सिंगार–रस बेलि–आलबाल भौ;
बाल–तनु–जोबन–रसाल उलहत सब,
सौतिन के साल भौ, निहाल नंदलाल भौ।।'[9]

---

[7] हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० शुक्ल – पृ. 173
[8] मतिराम ग्रन्थावली, सं. पं. कृष्ण बिहारी मिश्र – पृ. 255

अब आचार्य जसवंतसिंह के लक्षण उदाहरण पर गौर कीजिए–

"बिन जाने अज्ञात है, जाने जोबन ज्ञात।
मुग्धा के द्वय भेद ये कवि सब बरनत जात।।"[10]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रमुख उद्धेश्य पाण्डित्य प्रदर्शन के साथ–साथ कवित्व–शक्ति का भी परिचय देना था। ये रीतिकालीन कवि लक्षण के उदाहरण के लिए आठ से दस पंक्तियां लिखते थे जबकि आचार्य जसवंतसिंह जैसे एक ही पंक्ति में काम चला लेते थे। ये कवि प्रत्येक भेद के लिए ऐसे ही लम्बे उदाहरणों की सृष्टि किया करते थे। आचार्य जसवंतसिंह ने रस और उसके स्थायी भाव के केवल नाम परिगणन कर दिया है उनको अलग से किसी को भी उदाहरण रूप में नहीं समझाया है। यथा–

"गनि सिंगार अरू हास पुनि करून रुद्रहि जानि।
बीर भयरु बीभत्स कहि अदभुत सांत बखानि।।
रति हाँसी अरु सोक पुनि क्रोध उच्छाहरू भीति।
निंदा बिस्मय हाठ ये स्थायी भाव प्रतीति।।"[11]

आचार्य जसवन्तसिंह पूर्णतया काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना करना चाहते थे। जिसके कारण उन्होंने कविता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। डॉ• सत्यदेव चौधरी का कथन है कि–" राजा जसवन्तसिंह जैसे आश्रयदाताओं की न तो स्वरचित उदाहरणों द्वारा किसी को प्रसन्न करने की चिंता थी और न राजसभा मण्डप को हर्षध्वनि से गुंजित करने के लिए उदाहरण के रूप में कवित्त–सवैया प्रस्तुत करने की। जयदेव के समान उन्होंने शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण की एक ही छोटे से छंद (दोहा और सोरठा) में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया है। इस दृष्टि से उनका भाषाभूषण विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है।" [12] एक दृष्टि से देखा जाये तो रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करने वालों में जसवन्तसिंह पहले ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें हिन्दी साहित्य इतिहास में 'आचार्यत्व' के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। अर्थात वे रीतिकाल के प्रथम हिन्दी आचार्य ठहरते हैं। क्योंकि इनका मुख उद्धेश्य रीति काव्यांगों को हिन्दी में सरल रूप में सहृदय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना था जबकि अन्य रीतिकालीन कवियों का आचार्य कर्म उनके कवि कर्म का आधार मात्र था, मुख्य उद्धेश्य कवि कर्म ही

---

[9] मतिराम ग्रन्थावली, सं. पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ. 255
[10] जसवन्त सिंह ग्रन्थावली, पृ. 7
[11] जसवन्त सिंह ग्रन्थावली, सं. आ• विश्वानाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 15
[12] हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास, सं, डॉ० नगेन्द्र, ले. डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ. 222

था। इसीलिए डॉ• महेन्द्र कुमार ने जसवन्तसिंह (भाषाभूषण), याकूब खां (रस भूषण), रसिक सुगति (अलंकार चंद्रोदय) दलपति राय वंशीधर (अलंकार रत्नाकर), गोविन्द (कर्णाभरण), दूलह (कविकुलकण्ठाभरण), रसरूप (तुलसी भूषण) इन सभी को मात्र रीतिकर्म की प्रवृति में शामिल किया है जिनका एक मात्र लक्ष्य लक्षण निरूपण ही करना है; कवित्व शक्ति यहां पर गौण रूप में उपस्थित है।"[13]

डॉ• महेन्द्र कुमार ने रीति–निरूपण की प्रवृति की दृष्टि से इन रीति ग्रन्थों आदि उसके रचयिताओं को तीन भागों में बांटा है। प्रथम प्रवृति में उपर्युक्त ग्रन्थकार आते है। जिनकी प्रवृति मात्र रीतिकर्म का है। डॉ• महेन्द्र कुमार उपर्युक्त ग्रन्थों के विषय में कहते हैं–"इसके परिचायक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें सामान्य रूप सें काव्यांग–विशेष का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्धेश्य रहा है– अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्धेश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रंथों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व जैसी बात नहीं रही।"[14]

चिन्तामणि, भिखारी दास, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि ऐसे कवि रहे हैं जिन्होंने रीति–कर्म और कवि–कर्म दोनों के मध्य सामंजस्य बनाये रखा है। ये मूलतः कवि थे और राजदरबार में काव्य–पाठ किया करते थे। लेकिन काव्य–रसिकों को कवि शिक्षा देने के लिए इन्होंने रीति–कर्म को भी अपना किया। किन्तु रीति–कर्म को इन्होंने साधन रूप में रखा, साध्य रूप में नहीं अपनाया। साध्य तो इनकी कविता थी, वही साधना थी, वही आधार रूप थी। रीति कर्म तो कविता का अवलम्ब लेकर खड़ी थी। इसलिए इन्होंने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ तो रचे ही साथ ही साथ मतिराम जैसे कवियों ने 'मतिराम सतसई' लिखकर अपनी कवित्व शक्ति का भी अच्छा परिचय दिया। जबकि आचार्य जसवन्तसिंह ने ऐसा कोई काव्य ग्रन्थ नहीं लिखा–बल्कि दार्शनिक ग्रंथों का निरूपण अवश्य किया है। जिसे उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में लिखा है। और उसमें उनकी काव्य प्रतिभा भी झलकती है। लेकिन वे स्वभावतः कवि नहीं ठहरते। हमारे समक्ष आचार्य के रूप में ही आते है। लेकिन हमें अन्तिम निष्कर्ष तक पहुंचने से पहले रीतिकाल के प्रथम आचार्य के रूप में माने जाने वाले केशवदास के आचार्यत्व से जसवन्तसिंह के आचार्यत्व से तुलना करना अवश्यंभावी है। इन दोनों के मध्य तो तुलनात्मक दृष्टि से जो संभावित निष्कर्ष

---

[13] देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं• डॉ० नगेन्द्र, पृ. 303

[14] हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं, डॉ० नगेन्द्र, लेखक डॉ० महेन्द्र कुमार, पृ. 303

निकलेगा इसी के फलस्वरूप हम कह सकेंगे कि जसवन्त सिंह आचार्य की श्रेणी में आते हैं या नहीं।

आचार्य केशवदास ने रीतिकाल के लगभग पचास वर्ष पूर्व ही काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन कर लिया था। इसीलिए हिन्दी साहित्य के कुछ आलोचकों ने उन्हें सर्वप्रथम आचार्य माना है और कुछ ने नहीं क्योंकि कुछ आलोचकों ने चिन्तामणि को प्रथम आचार्य का दर्जा दिया है। केशवदास आचार्य माने जाते है लेकिन इन्होंने भी अपने आचार्यत्व के साथ–साथ अन्य रचनाकरों की तरह कवि कर्म को भी अपनाया है। इन्होंने जितना महत्व आचार्यत्व को दिया है उससे कहीं अधिक कवि–कर्म को दिया है। इस दृष्टि से ये भी उन रचनाकरों में शामिल हो जाते हैं जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

आचार्य जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' संस्कृत ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' के आधार पर लिखा है जो जयदेव और अप्पयदीक्षित द्वारा विरचित है। इनके अलावा गौण रूप में आचार्य विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' आदि का प्रभाव ग्रहण किया है। इस दृष्टि से तुलना करने पर आचार्य केशवदास की परम्परा से आचार्य जसवन्तसिंह भिन्न धरातल पर अवस्थित हैं। क्योंकि आचार्य केशवदास ने भिन्न परिपाटी को अपनाते हुए भामह, दण्डी, उदभट, एंव रुद्रट आदि अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों को उप–जीव्य बनाते हुए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार आचार्य जसवन्तसिंह ने चिन्तामणि द्वारा उद्भूत परिपाटी का अनुसरण करते हुए केशवदास से भिन्न आदर्श को ग्रहण किया।

आचार्य केशवदास और जसवन्तसिंह की निरूपण शैली में दृष्टिगत होती है। आचार्य केशवदास ने दोहा–कविता–सवैया शैली को अपनाते हुए काव्यांग निरूपण किया है जबकि जसवन्तसिंह ने 'कुवलयानंद' का अनुकरण करते हुए 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त शैली में काव्यांग निरूपण किया है। संक्षिप्त शैली का तात्पर्य यह है कि इन्होंने दोहे की एक पंक्ति में लक्षण दिया तो दूसरी पंक्ति में उस लक्षण का उदाहरण दिया। इस दृष्टि से आचार्य जसवन्तसिंह ग्रंथ के अंग विस्तार से बच सके है।

जसवन्तसिंह के आचार्यत्व को प्रदर्शित करने वाला प्रमुख ग्रन्थ 'भाषाभूषण' है। एक अन्य 'दोवा' नाम से भी दोहा छंद में लिखी गई पुस्तक है। इस 'दोवा' पुस्तक में नायिका वर्णन, संयोग और वियोग वर्णन किया गया है। आचार्य केशवदास के आचार्यत्व को प्रदर्शित करने वाले ग्रन्थों में 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'छन्दमाला' को परिगणित किया जाता है। इस

दृष्टि से देखा जाए तो जसवन्तसिंह ने काव्यांग निरूपण केवल एक ही ग्रंथ में किया है जबकि आचार्य केशवदास ने तीन ग्रंथ लिखे है। लेकिन इसके लिए ग्रंथों की संख्या मायने नहीं रखती। दोनों ही आचार्यों का मूल–उद्धेश्य काव्य मर्मज्ञों को शिक्षा प्रदान करना है। इसीलिए उन्होंने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पदार्पण किया। केशवदास ने 'रसिकप्रिया' के आरंभ में लिखा है–

"अति रति–गति मति एक करि, बिबिध–विवेक–विलास।
रसिकन को रसिक प्रिया, कीनी केसवदास।।"[15]

इसी प्रकार जसवन्तसिंह ने भी ग्रन्थ के उतरार्द्ध में लिखा है–

"ताही नर के हेत यह कीनों ग्रंथ नवीन।
जो पंडित भाषानिपुन कबिता बिषै प्रबीन।।"[16]

केशवदास ने 'रसिकप्रिया' की रचना रसिकों को इस रीति का परिज्ञान कराने एंव श्रृंगार के रसराजत्व की प्रतिष्ठा के उद्धेश्य से की है और 'कविप्रिया' का उद्धेश्य भी कवि शिक्षा ही है। जिस प्रकार इन्होंने अपना उद्धेश्य प्रकट किया है ठीक उसी प्रकार इन दोनों आचार्यों ने संस्कृत भाषा के ग्रन्थों को उपजीव्य बनाया था उसका उल्लेख करना नहीं भूले हैं।

आचार्य केशवदास तथा जसवन्तसिंह के उद्धेश्य तो एक ही है किन्तु इनकी रचनाओं पर दृष्टिपात किया जाए तो वहां पर काफी भिन्नताएं नजर आने लगेंगी। सर्व प्रथम तो केशवदास ने श्रृंगार रस को 'हरिश्रृंगार' उपाधि से विभुषित करते हुए उसे सभी रसों के नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यथा–

"नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास; हरि नायक है श्रृंगार।।"[17]

तत्पश्चात् कविप्रिया में केशवदास ने अलंकारों को काव्य सौन्दर्य के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में केशवदास की यह उक्ति अत्यन्त प्रचलित है–

"जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत।
भूषन बिनु न बिराजहीं; कविता बनिता मित।।"[18]

इस दृष्टि से देखने से ज्ञात होता है कि वे अलंकारवादी आचार्यों से प्रभावित होते हुए स्वयं उनकी श्रेणी में जा बैठे हैं। ध्यातव्य यह है कि आचार्य

---

[15] रसिक प्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक, टीकाकर विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 57
[16] जसवन्त सिंह ग्रन्थावली, भाषाभूषण, सं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 69
[17] रसिक प्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक, टी॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 88
[18] रीतिशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्य, डॉ० माननेद्र पाठक, पृ. 100

जसवन्तसिंह ने किसी विशेष रस, छन्द अथवा अलंकार पर बल नहीं दिया है। उन्होंने सभी को समान दृष्टि से देखा है।

सामान्यतः रीति ग्रंथों में इन विषयों पर विचार किया जाता है– काव्य निरूपण (काव्य स्वरूप, काव्य प्रयोजन और काव्य हेतु), शब्द शक्ति, रस और उनके अवयव, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य, दोष निरूपण, पिंगल आदि। रीति ग्रंथों के विषय को ध्यान में रखते हुए जसवन्तसिंह आदि केशवदास की तुलना की जाए तो दोनों का ही आचार्यत्व अधूरा ठहरता है। क्योंकि दोनों ने ही शब्द शक्ति, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य तथा गुण निरूपण को सर्वथा छोड़ दिया है। आचार्य जसवन्तसिंह ने तो इस से आगे बढ़कर दोष निरूपण, काव्य निरूपण पिंगल को भी विचारणीय नहीं माना।

केशवदास ने रीति वृति प्रकरण को अधूरा छोड़कर केवल नाटकीय वृत्तियों की ही चर्चा की है तो जसवन्तसिंह ने इसे छुआ तक नहीं। इस प्रकार केशवदास के आचार्यत्व का क्षेत्र रस, अलंकार और पिंगल है। वहीं जसवन्तसिंह के आचार्यत्व का क्षेत्र रस और अलंकार ही ठहरता है। लेकिन इसमें भी रस के वर्णन में केवल नाम परिगणन किया है विस्तार से विचार नहीं किया।

आचार्य केशवदास ने शृंगार रस के संयोग और वियोग दो भेद मानते हुए पुनः उसके प्रच्छन्न और प्रकाश दो नवीन भेदों की उद्‌भावना की है–

"सुभ संजोग वियोग पुनि द्वे सिंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकाश करि, दोऊ द्वे दै भांति।।"[19]

आचार्य जसवन्तसिंह ने केवल रसों तथा उनके स्थायी भावों के नाम गिना दिये हैं। उनके भेदों का वर्णन नहीं किया है।

आचार्य केशवदास अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते है। इसलिए संस्कृत के अलंकारवादी आचार्यों के समान केशव ने काव्य के सभी उपयोगी तत्वों को 'अलंकार' की अभिधा प्रदान की है। इन्होंने अलंकार के विशिष्ट और साधारण दो भेद किये है। पुनः साधारण अलंकारों के चार भेद किए है। वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री। यद्यपि आचार्य केशव के साधारण अलंकारों के सूत्र 'अलंकार शेखर' और 'काव्यकल्पलतावृति' नामक संस्कृत ग्रन्थों में खोजे जा सकते है तथापि इन संस्कृत ग्रन्थों के लेखकों ने इन्हें अलंकार की संज्ञा नहीं दी। विशिष्ट अलंकार के अन्तर्गत उन्होंने चालीस अलंकारों का उल्लेख किया है। जिनका मूल रूप दण्डी और रुय्यक के अलंकार ग्रंथों में सुरक्षित है। उनसे प्रभाव ग्रहण करते हुए ये अलंकार लिखे गये है।

---

[19] रसिक प्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक, टी॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 58

वस्तुतः आचार्य केशव ने जो ये अलंकार के दो भेद किये है और पुनः साधारण अलंकार के चार भेद किये है, निरर्थक है। क्योंकि संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित वास्तविक अलंकार आचार्य केशव द्वारा रचित विशेष अलंकार एक ही है केवल नाम बदल दिये है। वर्णन प्रणाली और वर्ण्य विषयों को अलंकार मान लेने से ही मौलिकता की उद्‌भावना नहीं मानी जा सकती।

आचार्य जसवन्तसिंह ने अलंकारों के विषय में ऐसा घालमेल नहीं किया है। उन्होंने अलंकारों का विवेचन अर्थालंकार और शब्दालंकार की बन्धी–बन्धाई परिपाटी पर ही किया है। इसलिए इन्होंने सर्वप्रथम अर्थालंकारों का विवेचन किया है तत्पश्चात शब्दालंकारों का विवेचन कर दिया है।

आचार्य जसवन्तसिंह और आचार्य केशवदास की समानता को देखा जाय तो जसवन्तसिंह में नायिकाओं के जाति के आधार पर जो चार भेद स्वीकर किये है वे आचार्य केशवदास में वर्णित है और यहाँ पर जसवन्त सिंह आचार्य केशवदास से प्रभावित हुए हैं। आचार्य केशवदास लिखते हैं–

"प्रथम पद्‌मिनि चित्रिनी, जुवती जाति प्रमान।
बहुरि संखिनी हस्तिनी, केसवदास बखान।।"[20]

आचार्य जसवन्तसिंह का नायिका जाति–भेद दृष्टव्य है–

"पदमिनि चित्रिनि संखिनी अरु हस्तिनी बखानि।
बिबिध नायिकाभेद में चारि जाति तिय जानि।।"[21]

आचार्य केशवदास ने नायिका के भेद प्रभेद कुल 360 किये हैं जबकि जसवन्तसिंह ने 32 भेद का वर्णन ही किया है। जसवन्तसिंह ने संक्षिप्त शैली तथा संक्षिप्त वर्ण्य विषय का ही चयन किया है। वे ग्रन्थ विस्तार के भय से वर्णन–विस्तार नहीं कर पाये है।

मौलिकता की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ही आचार्यों में इसका अभाव है। हाँ नाम में हेर–फेर कर कुछ नये अलंकारों की सृष्टि अवश्य की गई है। कुछ अलंकार जो स्पष्ट नहीं है उन अलंकारों को स्पष्ट कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में जसवन्तसिंह के तद्‌गुण अलंकार दृष्टव्य है। अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' में केवल यही कहा गया है–

'तद्‌गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीय गुण ग्रहः।"[22]

'भाषाभूषण' में उल्लिखित है–

"तदगुण तजि गुन आपनो संगति को गुन लेई।"[23]

---

[20] रसिक प्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 71
[21] जं. ग्र. भाषाभूषण, सं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 7
[22] कुवलयानंद, अप्पयदीक्षित, पृष्ठ 128

इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने लक्षण में संगति को गुन कोई कहकर वस्तु के सामीप्य का बोध कराते हुए अलंकार को स्पष्ट किया है, नवीनता का समावेश किया है। जिसका उल्लेख 'कुवलयानंद' में नहीं है। अतः जसवन्तसिंह के अलंकार में अधिक स्पष्टता आ गयी है।

अस्तु, जहां केशवदास का अलंकार रस और नायिका भेद–निरूपण उनके गंभीर शास्त्र–ज्ञान, सूक्ष्म प्रतिभा एंव गंभीर विवेचन शैली का परिचय देता है वहीं आचार्य जसवन्तसिंह ने भी अपने गुरू ज्ञान, संक्षिप्त किन्तु गंभीर विवेचन शैली से चमत्कृत किया है।

आचार्य जसवन्तसिंह ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'भाषाभूषण' की रचना करते समय संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों 'चन्द्रालोक' (जयदेव) और 'कुवलयानंद' (अप्पयदीक्षित) को अपना उपजीव्य ग्रंथ बनाया। 'कुवलयानंद' की छाया लेकर 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त शैली में 'भाषा भूषण' की रचना की गई। 'कुवलयानंद' का प्रभाव किस प्रकार व कितना पड़ा है इस बात का पता हमें 'कुवलयानंद' और 'भाषाभूषण' के अलंकारों के क्रम को देखने पर पता चलता है। यही नहीं 'भाषाभूषण' के अलंकारों के जो भेद–प्रभेद किये गये हैं वे भी 'कुवलयानंद' से प्रभावित होकर किये गये है, 'चन्द्रालोक' से नहीं। जैसे 'चन्द्रालोक' में अतिशयोक्ति अलंकार के छः भेद दिये गये हैं जबकि 'भाषाभूषण' में आठ भेद हैं जो कि 'कुवलयानंद' में वर्णित आठ भेदों के सदृश है। अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' का प्रभाव 'भाषाभूषण' पर कितना पड़ा है इसका पता निम्नलिखित अलंकारों से हो जाता है–

व्याज स्तुति अलंकार–

"उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।
कः स्वर्धुनि विवेकस्ते पायिनो नयसे दिवम्।।"[24]

"व्याजस्तुति निन्दा मिसहि जबै बड़ाई होन्ही।
सर्ग चढ़ाए पतित ले गंग कहा कहूँ तोहि।।"[25]

उपर्युक्त अलंकार दोनों ही ग्रन्थों में एक समान है। शब्दों को उल्था मात्र कर दिया गया है।

शृंगार

---

[23] ज.ग्रं.भाषाभूषण, पृष्ठ 168

[24] कुवलयानंद–अप्पयदीक्षित,पृष्ठ–138

[25] ज.ग्रं.–भाषाभूषण,पृष्ठ–34

रीतिकालीन साहित्य की सृष्टि सामन्ती वातावरण में हुई। तत्कालीन राजदरबारी कवि से 'स्वान्त सुखाय' रचना की आशा नहीं की जा सकती थी। इसकी वाणी में सूर और तुलसी जैसी तन्मयता, सात्विकता, उर्जस्विता और उदात चेतना नहीं है। रीतिकालीन कवि की समस्त अन्तश्चेतना, सुरा–सुन्दरी और सुराही के इर्द–गिर्द चक्कर लगा रही थी। राजदरबार की चकाचौंध और नृत्यांगनाओं के ढोल–मंजीरों की मधुर ध्वनि को छोड़कर वह उस विशाल कोलाहल को सुनने के लिए कभी भी बाहर नहीं निकला। वह यथार्थ से मुँह मोड़कर राजदरबार की भव्यता में ही कुंडली मारकर बैठ गया। भाव सौन्दर्य की अपेक्षा उसे रूप–सौन्दर्य अधिक आकर्षित करता रहा। रीतिकालीन कवि ने अपनी समस्त शक्ति नारी शरीर के रूप चित्रण में लगा दी उसकी अन्तरात्मा तक वह कभी नहीं जा सका। "इन रसिकों की दृष्टि प्रायः शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म–सौन्दर्य तक कम ही पहुंच पाती थी और आत्मा का सात्विक तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अतएव इनकी सौन्दर्य–भावना छायावाद की सौन्दर्य–भावना के बिल्कुल विपरीत–विषयीगत न होकर प्रधानतः विषयगत ही थी।"[26]

रीतिकाल में शृंगारिकता की प्रवृति प्रचुर मात्रा में मिलती है। तत्कालीन परिवेश के मद्देनजर इस समय का माहौल भोग–विलास से परिपूर्ण था और इस विलासिता की परिधि के केन्द्र में थी नारी, जिसके चारों ओर सुरा, सुराही आदि कई उपकरण एकत्र थे। रीतिकालीन कवि ने नारी–शरीर के महीन से महीन चित्र उकेरकर राजा–महाराजाओं के रक्त–स्नायुओं को झंकृत किया। फलतः उस समय शृंगार रस की प्रधानता में प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया। "इसीलिए रीतिकाव्य की शृंगारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती हैं और उसमें भी सूक्ष्म आन्तरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है।"[27]

रीतिकाल की महत्वपूर्ण बात यह है कि उस समय कवि दीर्घ कविता कम ही किया करते थे बल्कि प्रतियोगितावश छोटे–छोटे मुक्तक की रचना करते थे और उनके आश्रयदाताओं को भी वही पसंद आते थे। क्योंकि मुक्तक क्षणिक समय के लिए हार्दिक सुख प्रदान करते थे और श्रोतागण रस से सराबोर हो जाते थे। रीतिकालीन कवियों की प्रतिस्पर्धा हिन्दी कवियों ही नहीं संस्कृत और उर्दू कवियों से भी रहती थी। "संस्कृत वाले शृंगार की मुक्तक की रचना सामने लाते थे जिसमें वे नायक–नायिका ऋतु वर्णन, रूप–कथन

---

[26] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 168
[27] वही, पृ. 168

आदि की छटा दिखाते थे, हिन्दी वालों को भी वही करना पड़ता था। नरेश ही नहीं छोटे–छोटे जमींदार तक ऐसी रचना के शौकीन हो गये थे। मुसलमानी दरबारों में फारसी या उर्दु की रचना प्रेम का ही बंधा–बंधाया विषय (थीम) लेकर चलती थी। उसके जोड़ में हिन्दी कवियों ने शृंगार या नायक–नायिका भेद की रचना सामने की। उधर से वे शेर पढ़ते या गजल गाते थे, इधर से ये कविता, सवैया या दोहा भनते थे। मुक्तक रचना के आधिक्य का प्रमुख कारण यह दरबारी ही है, क्योंकि मुक्तक द्वारा ही थोड़े में रस के छींटे उछाले जा सकते थे।"[28]

शृंगार–वर्णन रीति काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है। यद्यपि रीतिकालीन कवियों का प्रमुख वर्ण्य विषय नायिका भेद, नख–शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करता है, फिर भी इनके माध्यम से शृंगार का प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में यही उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है।

आचार्य जसवन्त सिंह रीतिकाल की उपज थे। इन्होंने भी तत्कालीन परिस्थितियों के वशीभूत होकर अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'भाषाभूषण' में लक्षणों के उदाहरणों के रूप में शृंगार के उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में दिये है। शृंगार के साथ–साथ वीर और भक्ति के भी उदाहरण दिये है लेकिन अधिकता शृंगारिक उदाहरणों की है। जसवन्त सिंह जिस परिवेश और परिस्थितियों में पले–बढ़े थे उससे स्वाभाविक है कि शृंगारिक उदाहरण की पर्याप्त मात्रा होती। इसलिए अपने समकालीन रीति कवियों की तरह इन्होंने रीति परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा।

रीतिकालीन काव्य शृंगारिक आधार पर खड़ा है। मूल भाव–भूमि शृंगार की ही है और यह शृंगारिक भाव भूमि अपना विस्तृत रूप लिए हुए है। रीतिकालीन कवि कृष्ण और राधा को नायक–नायिका बनाकर भक्ति पूर्ण रचनाएं करते थे और यह भक्ति 'माधुर्य भाव' की भक्ति कहलाती थी क्योंकि इसके साथ शृंगार रस का भी विलय हो गया था। "भक्ति और शृंगार ने मिलकर मधुर रस का रूप धारण किया, जिसके भीतर शृंगार रस ने सचमुच अलौकिक रूप पाया।"[29] इस प्रकार शृंगार का क्षेत्र विस्तृत हो गया । यह लौकिक धरातल से अलौकिक (आध्यात्मिक) धरातल तक विस्तृत हो गया।

जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' में शृंगार रस को पर्याप्त स्थान दिया। उन्होंने तत्कालीन परिवेश के अनुकूल शृंगार रस के दोहों की स्थापना की है।

---

[28] हिन्दी साहित्य का अतीत, शृंगारकाल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ.39

29 हिन्दी साहित्य का अतीत, शृंगारकाल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 50

जसवन्तसिंह गमन करती हुई नायिका का चित्रण करते हुए कहते है कि यह नायिका स्वर्ण की लता के समान गमन करती हुई कितनी सुन्दर प्रतीत हो रही है। यथा–

"गवन करत नीकी लगति कनकलता यह बाम।"[30]

इसी प्रकार की नायिका का चित्रण मतिराम ने अपने ग्रन्थ 'रसराज' में किया है। इन्होंने इस नायिका की विशेषताओं को भी उद्घाटित कर दिया है। इस नायिका के समक्ष कुन्दन का रंग भी फीका लग रहा है तथा जितना ही सन्निकट से उसकी परीक्षा की जाती है उतनी ही उसमें अच्छी–अच्छी बातें दृष्टिगत पड़ती है। यथा–

"कुन्दन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई;
आंखिन में अलसानि, चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसकानि–मिठाई;
ज्यों–ज्यों निहारिये नेरे है नैननि,
त्यों–त्यों खरी निकरै–सी निकाई।।"[31]

इन दोनों ही रीतिकालीन कवियों ने उपर्युक्त दोहों को लक्षण के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत किया है। इसलिए इनमें मूलभूत अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। हाँ जसवन्तसिंह में संक्षिप्तता का भान अवश्य होता है। एक ही युग में रचनाएं करते हुए भी इनमें रचनागत क्षेत्रफल में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। जिस विषय को स्पष्ट करने के लिए मतिराम ने उससे सम्बन्धित (नायिका के सौन्दर्य) चार पंक्तियों को खर्च किया वहीं जसवन्तसिंह ने एक ही पंक्ति में स्पष्ट कर दिया है। साथ ही उनका 'कनकलता' शब्द मतिराम के उपर्युक्त कवित में वर्णित नायिका के सम्पूर्ण सौन्दर्यात्मक गुणों/तथ्यों को अपने अन्दर समेट लेता है।

इसी प्रकार विरह वर्णन से सम्बन्धित दोहों में आचार्य जसवन्तसिंह अग्रणी ठहरते हैं। यथा–

'कंकन ही भई भई मुंदरी पीयगमन सुनि आज।'[32]
'अंगुरी की मुंदरी हुती भुज में करति विहार।'[33]

उपर्युक्त पंक्तियों में आचार्य जसवन्त सिंह ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नायिका अपने प्रिय से बिछुड़ने पर उसके विरह में कितनी दुबली हो गयी है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए मतिराम भी लिखते है–

---

[30] जसवन्त सिंह ग्रन्थावली, भाषाभूषण, पृ 20
[31] मतिराम ग्रन्थावली, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 254
[32] जसवन्त सिंह ग्रन्थावली, भाषाभूषण, पृ.26
[33] वही, पृ. 42

"जा दिन तै चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता दिन तैं वाके पियराई तन छाई हैं।
कहै 'मतिराम' छोड़े भूषण, बसन, पान
सखिन सौं खेलनि, हंसनि बिसराई है।
आई रितु सुरभि, सुहाई प्रीति वाके चित,
ऐसे मैं चली तो लाल रावरी बड़ाई है;
सोवत न रैन दिन, रोवति रहति बाल,
बूझै तैं कहत मायके की सुधि आई है।"[34]

कहने का तात्पर्य यह है कि दोनो ने ही विरह से व्यथित नायिका का चित्रण किया है। लेकिन आचार्य जसवंतसिंह ने विरह से दग्ध नायिका की अंतिम परिणती दुबलेपन में दिखा दी है। मतिराम ने जो वर्णन किया है वह इसकी प्राथमिक अवस्था है उसकी अंतिम परिणती तो जसवंतसिंह की एक पंक्ति में उद्धृत हो गई है।

मतिराम ने कृशगात नायिका का चित्रण एक अन्य दोहे में किया है। यथा–

"लाल, तिहारे बिरह नित, छीन बाल के अंग;
जानति हौं, चाहत दियो, निज सायुज्य अनंग।"[35]

कामदेव अनंग है। उसके शरीर नहीं है। कवि अपने इसी मत को विरहिणी नायिका में भी स्थापित करना चाहता है। मानो कामदेव उसे अपने ही समान बिना शरीर वाली बना लेगा– सायुज्यता प्रदान कर देगा।

रीतिकाल विलासिता का युग था। इसलिए इस काल के प्रायः सभी कवि बाह्य विधान में उलझे रहे हैं। इन कवियों ने शारीरिक सौन्दर्य के बरक्स प्रेम व अनुभूति को कम आँका है। "इस काल में आकर्षण का शरीर रूप इतना प्रधान हो गया कि उसने अलौकिक प्रेम के काम–विहिन स्वरूप को ग्रस लिया है।"[36] जहां तक जसवन्तसिंह और बिहारी के शृंगार चित्रण की तुलना की बात आती है तो एक बात दोनों में ही समान रूप से लागू होती है कि बिहारी राजदरबारी कवि थे तो जसवन्तसिंह महाराजा। अर्थात दोनों ही विलासिता में निमज्जित थे। इसलिए इन दोनों के ग्रन्थों में तुलना करने पर तत्कालीन परिस्थितिवश समानतांए ही अधिक परिलक्षित होती है। दोनों ने ही नायिका के

---

[34] मतिराम ग्रन्थावली, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, पृ. 297
[35] वही, पृ. 101
[36] रीतिकाव्य में शृंगार निरूपण, एस. आर. श्रीवास्तव, पृ. 53

शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण किया है। लेकिन बिहारी के दोहों में अश्लीलता आ गई है, जसवन्तसिंह के दोहों में अश्लीलता जैसी कोई बात नहीं।

बिहारी ने नायिका के अंगो का वर्णन दोनों रूपों में किया है। आभूषणों से रहित भी और आभूषणों से युक्त भी। लेकिन जसवन्तसिंह ने आलंकारिक ग्रन्थ लिखने के कारण नायिका के अंगों को उपमा से मंडित कर दिया है। यथा–

"लोयन से अंबुज बने मुख सों चन्द बखान।"[37]

संयोग शृंगार का प्रधान आलंम्बन नारी है। उसके अंग–प्रत्यंग तथा शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण दोनों ने ही किया है। जैसे बिहारी की नायिका नेत्र–शर से बेधने में भी पारंगत है। सामान्य बाण जिस जगह लगते है उसी जगह घाव करते है तथा उसी को व्याकुल करते है। किन्तु नायिका द्वारा मारे गये इन नेत्र बाणों का हाल ही अजीब है। यह लगते तो नेत्रों में हैं, हृदय में घाव करते हैं और शरीर के अन्य अंगों को व्याकुल करते हैं–

"दगनु लगत बेधत हियहिं, बिकल करति अंगु आन।
ऐ तेरे सब तैं विषम ईछन–तीछन बान।।"[38]

इसके बरक्स जसवन्तसिंह की नायिका भी कम नहीं है उसके नेत्रों के कटाक्ष के सम्मुख काम के बाण भी मंद पड़ जाते हैं। यथा–

"तीछन नैन कटाछ तें मंद काम के बान।"[39]

इस प्रकार बिहारी और जसवन्तसिंह के उपर्युक्त नेत्रों का चित्रण पैनापन लिए हुए है। जसवन्तसिंह ने बसन्त ऋतु का जो चित्रण किया है और बिहारी के वसन्त–चित्रण में तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही कवियों ने जैसे पास–पास बैठकर दोहा लिखा हो। क्योंकि इन दोहों में शब्द–साम्यता तो है ही साथ ही जो ध्वनि बिम्ब प्रयुक्त हुआ है उसके कारण कानों में एक झंकार गुंजायमान होती है साथ ही शब्द भी भौंरों की भाँति नृत्य करते से प्रतीत होते है–

"कोयल मदमाती भई, झूमत अंबाबौर।"[40]

'बिहारी सतसई' से–

"छकि रसाल सौरभ सनै मधुर माधवी–गंध।
ठौर–ठौर झौरंत झंपत, भौर–झौंर मधु अंध।।"[41]

---

[37] ज. ग्रं., भाषाभूषण, पृ. 19
[38] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ. 144
[39] ज. ग्रं., भाषाभूषण, पृ. 19
[40] ज. ग्रं., भाषाभूषण, पृ. 39
[41] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ. 193

इसी प्रकार की समानता इनके अन्य शृंगारिक दोहों में भी मिल जाती है। उनके शब्दों का सामंजस्य पूर्ण प्रयोग दोनों के दोहों में मिलता है। यथा–

"अंजन लग्यो है अधर प्यारे नैनन पीक।"[42] (भाषाभूषण)

"पलनु पीक, अंजनु अधर धरे महावरु भाल।"[43] (बिहारी सतसई)

इसके अतिरिक्त मुख को कमल की उपमा देना, केश को सघन तिमिर, उरोजों को मुक्ताफल, जांघों को कदली, पेट पर पड़ने वाली सिलवटों को त्रिबली की उपमा समस्त रीतिकाल में दी गई है और वे जसवन्तसिंह के शृंगारिक उदाहरणों में प्रचुर भागों में मिल जाते है।

जसवन्तसिंह ने शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण किया है। विप्रलंभ शृंगार में जसवन्तसिंह ने प्रोषितपतिका नायिका का चित्रण किया जो कि अल्पायु है और प्रदेश गये पति के सम्बन्ध में संशकित है–

"अति कारी घटा प्यारी बारी बैस।
पिय परदेस अंदेस यह आवत नांहि संदेस।।"[44]

वियोग वर्णन में जसवन्तसिंह व बिहारी दोनों ने ही अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया है। यथा–

"कंकन ही भई मुंदरी पियगमन सुनी आज।"
अंगुरी की मुंदरी हुती भुज में करति विहार।"[45]

अब बिहारी का दोहा देखिये–

"आड़े दे आले वसन जाड़े हू की राति।
साहसु ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति।।"[46]

चूंकि जसवन्तसिंह और बिहारी दोनों ही रीतिकाल में वर्तमान थे। एक ही काल में रहते हुए बिहारी से जसवन्तसिंह प्रभावित हुए हैं। इसलिए इनके शृंगारिक उदाहरणों पर 'बिहारी सतसई' की स्पष्ट छाया है।

जसवन्तसिंह और बिहारी ने वियोग की व्याप्ति को केवल नायिका तक ही सीमित नहीं रखा है बल्कि यह वियोग की बड़वाग्नि प्राकृतिक परिवेश को भी अपने चपेट में ले लेती है। "दोहों का शब्द–शब्द, अक्षर–अक्षर वियोग की गहरी आहें भरता हुआ अन्तर्व्यथा की सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन से स्पन्दित है।

---

[42] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ 66
[43] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ. 33
[44] ज. ग्रं., भाषाभूषण, पृ. 67
[45] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 26,42
[46] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ. 121

यहाँ तक कि सारी बाह्य प्रकृति भी संवेदनापूर्ण हो स्वंय भी विरह की आग उगलने लगती है।"[47] इसे हम इनके दोहों से समझ सकते हैं –

"तीव्र चन्द नहिं रैन रवि बड़वानल ही जोइ।"[48]

"बिरह–जरि लखि जीगननु कह्यो न उहि के बार'
अरि, आउ भजि भीतरी, बरसत आजु अंगार।।"[49]

रीतिकाल में रीति कवियों में मुख्यतः दो प्रवृतियां पाई जाती है– कवित्व और आचार्यत्व। देव और पद्माकर इन प्रवृतियों का पूरा–पूरा प्रतिनिधित्व करते है। जसवन्तसिंह ने कवित्व को महत्व न देते हुए रीति काव्यांगों पर लिखा है जिससे वे आचार्य की श्रेणी में अपना स्थान बनाते है। किन्तु फिर भी जसवन्तसिंह ने इन काव्यांगों पर लिखते हुए लक्षणों के उदाहरण रूप में जो पंक्तियां लिखी हैं उनमें उनकी कवित्व शक्ति का बोध हो जाता है।

देव मूलतः प्रेम और शृंगार के कवि हैं। वहीं पद्माकर ने "शृंगार के सागर में ऐसी तरंगें उठाई है जिनमें सराबोर हो पाठक तन्मय हो जाता है।"[50] जसवन्तसिंह ने जहां अपने ग्रन्थ में शृंगार विवेचन में नायिका के रूप सौन्दर्य, देहयष्टि का चित्रण, विरह वर्णन में नारी की कृशता, खण्डिता का वर्णन, शारीरिक हाव–भाव आदि का वर्णन किया है, वहीं "देव और पद्माकर के शृंगार काव्य के आलम्बन परम्परागत काव्य के नायक–नायिका कृष्ण–राधा, गोपियां, आभीर स्त्रियां ही रहे हैं। इनके द्वारा इन्होंने नायिका के शारीरिक सौन्दर्य, दर्श–स्पर्श, केलि–क्रीड़ा, रति तथा रति चिह्न आदि समस्त अवयवों की तन्मयता पूर्वक चर्चा की है।"[51]

जसवन्तसिंह ने नायिका को अधिकतर उपमा से ही मण्डित किया है। उसके मुख को चन्द्रमा के कभी समकक्ष ठहराया है तो कभी नायिका के मुख के सम्मुख चन्द्रमा को कमतर आंका है। यथा–

"मुख ससि वा ससि ते अधिक उदित जोति दिनराति।"[52]

देव की नायिका भी सौन्दर्य में चन्द्रमा से प्रतिस्पर्धा कर रही है। चन्द्रमा भी राधा के रूप का प्रतिबिम्ब लग रहा है–

"आरसी से अम्बर मैं, आभासी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सों लगत चंद।"[53]

---

[47] बिहारी का काव्य, सं. हरिमोहन मालवीय, ले. डॉ. संसारचन्द्र, पृ. 112
[48] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पं. 22
[49] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ. 228
[50] रीतिकाव्य में शृंगार निरूपण, एस. आर. श्रीवास्तव, पृ. 117
[51] देव और पद्माकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा, पृ. 117
[52] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ.20

पद्माकर, बिहारी और देव के काव्य में सौन्दर्य वर्णन में ऐन्द्रियता उभर कर आई है। तत्कालीन परिस्थितियों के वशीभूत होकर इन्होंने अपने काव्य में एन्द्रिकता को प्रश्रय दिया और इनकी रसिकता एन्द्रियता से भरपूर अनेक छन्दों में देखी जा सकती है। "देव की गंभीर रसिकता इस क्षेत्र में खूब प्रसिद्ध है। उनके वर्णनों में ऐसा लगता है जैसे कवि की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों से लिपट–लिपटकर रस–स्नात हो जाती।"[54] जसवंतसिंह महाराजा होते हुए भी तथा स्वयं रचना करने के स्वंय रचना करने के बावजूद इन्होंने अपनी रचनाओं में एन्द्रियता को स्थान नहीं दिया।

जसवन्तसिंह ने शृंगार वर्णन में नायक को स्थान नहीं दिया है। शृंगारिक उदाहरणों में नायिका के बरक्स नायक को छोड़ ही दिया है। नायक को वीर रस के उदाहरणों के लिए ही इन्होंने उचित माना है। वहीं नायिका का चित्रण बड़े उत्साह के साथ किया है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए तीनों कवियों के काव्य से एक–एक उदाहरण प्रस्तुत है।

जसवन्तसिंह –

"गवन करत नीकी लगति कनकलता यह बाम।"[55]

देव –

"पीछे पर बीनैं बीनैं संग की सहेली आगे;
भार डर भूषन डगर, डारै छोरि–छोरि।
चौंकति चकौंरनि त्यौं, मेरे मुख मोरनि त्यौं,
भौरनि की ओर भीरु देखै मुख मोरि मोरि।।
एक कर आली पर ऊपर ही धरै,
हरे–हरे पग धरै देव चले चित्त चोरि–चोरि।
दुजे हाथ साथनि सुथनि सुनावति बचन,
राजहँसनि चुगावति मुकुत भाल तोरि तोरि।"[56]

पद्माकर –

"ससि ब्रज चन्द पै चलीयों मुखचन्द जाको
चन्द चाँदनी को मुख मंद से करत जात।
कहै पदमाकर त्यों सहज सुगंध ही के
पुँज वन कुँजन में कुँज से भरत जात।

---

[53] देव और पद्माकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा, पृ. 118
[54] देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 94
[55] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 20
[56] देव और पद्माकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा, पृ. 121

धरत जहाँई जहाँ पग है पियासी तहाँ
मंजुल मजीठ ही के माट से ढरत जात।
हारन ते हैरौं सेत सारी के किनारन तें
बारन तें मुक्ता हजारन झरत जात।।"[57]

देव की नायिका में जैसा मद और ऐश्वर्य दिखाई देता है वैसा ही पद्माकर की नायिका में दिखाई देता है। जबकि जसवन्तसिंह ने एक पंक्ति में अपनी नायिका के चलने की बाँकी अदा का चित्रण और उसकी देहयष्टि को 'कनकलता' कहकर उपर्युक्त नायिकाओं के समक्ष ही खड़ा कर दिया है।

एक स्थान पर कृष्ण का मुरली के प्रति प्रेम दिखाया है जिसके फलस्वरूप राधा और गोपियां उस मुरली को अपना शत्रु अथवा सोत मानती है। और उसे बड़ी बला घोषित करती है–

"मोहन कर मुरली नहीं कछु इक बड़ी बलाई।"[58]

सूरदास ने भी अपने अपने काव्य में मुरली पर छन्द लिखे है। उन्होंने भी श्रीकृष्ण के मुरली प्रेम को राधा और गोपियों के लिए एक ईर्ष्या अथवा सौतिया डाह के रूप में बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। जिसे जसवन्त सिंह के उपर्युक्त दोहे से तुलना के रूप में देखिए –

अधर रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षटरितु तय कीन्हौ, मो रस पियति सभागी।
कहाँ रही, कहँ तैं यह आइ, कौने याहि बुलाई।
चक्रित भइ कहतिं ब्रजबासिनि यह तो भली न आइ।
सावधान क्यों होति नहिं तुम, उपजी बुरी बूलाई।
सूरदास प्रभू हम पर ताकौं, कीन्हौं सोति बजाई।।"[59]

जसवन्तसिंह और सूरदास दोनों के ही छन्दों को देखने पर दोनों का ही भावार्थ एक ही निकलता है। दोनों छन्दों में ही कृष्ण के मुरली प्रेम के प्रति राधा व गोपियों की ईर्ष्या का वर्णन किया गया है। जसवन्तसिंह के 'कछु इक बड़ी बलाई' और सूरदास के 'उपजी बुरी बलाई' में शब्दिक साम्यता तो है ही साथ ही साथ उनका मन्तव्य भी एक ही है।

इस प्रकार जसवन्तसिंह का शृंगार वर्णन उत्कृष्ट रूप में है और अन्य रचनाकारों की तुलना में क्षिप्र है। संक्षिप्तता ही उनकी शक्ति है।

---

[57] देव और पद्माकर : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामकुमार शर्मा, पृ. 121
[58] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृं 64
[59] सूरसागरसार सटिक, सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 96

जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया है। वस्तुतः यह परम्परा रही है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में अपने आराध्य देव की स्तुति की जाय। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण देने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसी प्रथा के अनुकूल इस ग्रन्थ में भी मंगलाचरण दिया गया है। परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम गणेश वंदना होती है, उसी परम्परा का अनुकरण जसवन्तसिंह ने यहां किया है –

"विघनहारन तुम हो सदा गनपति हेतु सहाई।
बिनती कर जोरें करौं दीजे ग्रन्थ बनाई।।"[60]

वस्तुतः जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' में कोई भक्ति दर्शन प्रस्तुत नहीं किया अपितु उन्होंने लक्षण के उदाहरण के रूप में भक्ति के दोहे लिखे। यहाँ पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन संक्षिप्त उदाहरणों में व्यक्त स्तुति क्या इनकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति को अभिव्यक्त करती है, अथवा कर पाती है? क्या इन संक्षिप्त, एक पंक्ति के उदाहरणों में इनकी भक्ति स्पष्ट हो पाती है? कहीं ऐसा तो नहीं कि आस्वादन परिवर्तन के लिए शृंगार तथा वीर के साथ भक्ति को भी प्रतिष्ठापित कर दिया हो? इन सभी प्रश्नों के उत्तर हमें 'भाषाभूषण' का पाठ करने से मिल जाते हैं। भक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए किसी भारी–भरकम ग्रन्थ का निर्माण करने की जरूरत नहीं होती। अगर अंतरातमा में ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा हो तो एक पंक्ति क्या एक शब्द (राम) से भी भक्ति स्पष्ट हो जाती है। 'भाषाभूषण' के दोहे इसके उदाहरण है।

जसवन्तसिंह ने जिन उदाहरणों में भक्ति के दोहे रखे हैं उनकी जगह पर शृंगार के भी दोहे आ सकते थे लेकिन उनकी अध्यात्म के प्रति अभिरुचि होने के कारण भक्ति को प्राथमिकता प्रदान की। इसी आध्यात्मिक रूचि के कारण इन्होंने 'भाषाभूषण' के इतर अन्य 'आनंद विलास' आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। जबकि शृंगारिक ग्रन्थ के रूप में केवल 'दोवा' ही है। 'भाषाभूषण' में मिले जुले उदाहरण है। अन्य सभी ग्रन्थ आध्यात्मिक है।

आचार्य जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' में जो भक्ति के उदाहरण रखे है उनमें विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति की गयी है। आरम्भ में ही मंगलाचरण में गणेश जी के पश्चात् ब्रह्म, विष्णु और श्री कृष्ण की वंदना की गई है। इनके अतिरिक्त शिव, गंगा, लक्ष्मी, शेशनाग आदि की स्तुति की गयी है। यथा –

---

[60] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 5

"जिहिं कीनो परपंच सब अपनी इच्छा पाई। (ब्रह्म)
ताकों हौं बंदन करौं हाथ जोरि सिर नाई।।
करुना करि पोसत सदा सकल सृष्टि के प्रान। (विष्णु)
ऐसे ईश्वर को हिये रहौ रैनदिन ध्यान।।"[61]
"विष राखत है कंठ सिव आप धारयो इहिं हेत।"[62] (शिव)
"सरग चढ़ाए पतित लै गंग कहा कहौं तोहि।"[63] (गंगा)
"नीच संग अचरज नहीं लछमी जलजा आहि।"[64] (लक्ष्मी)

जसवन्तसिंह ने श्रीकृष्ण की भक्ति के उदाहरण भी प्रस्तुत किये है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इन्होंने अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह श्रीकृष्ण और राधा के युगनद्ध चित्र अंकित नहीं किये। बल्कि श्रीकृष्ण के वीर पक्ष पर बल देते हुए उसके पौरूषत्व को उभारा है–

"गिरिवर धरिहै गोपसुत को जाने यह काज।"[65]
"हरि गिरि धारयो सतपुरूष भार सहत ज्यों सेष।"[66]

रीतिकाल में बिहारी आदि कवियों ने श्रीकृष्ण और राधा के माध्यम से भक्ति के दोहे लिखे थे। यथा–

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित दुति होई।।"[67]

यही नहीं भक्ति काल में सूरदास ने जो भक्ति काव्य लिखा उसमें भी राधा कृष्ण के सम्बन्धों को प्रमुखता दी गई है और गोपियों को भी वहां उपस्थित किया है। मीरां की भक्ति तो श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य–भाव की भक्ति कहलाती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में दिखाया है कि जसवन्तसिंह की भक्ति बहुदेववाद को प्रतिष्ठित करती है। वे एक ईश्वर की उपासना नहीं करते हैं। साथ ही यह भी दिखाया है कि अन्य कवियों की तुलना में इन्होंने श्रीकृष्ण को तारनहार के रूप में अवतरित किया है। इससे जसवन्तसिंह की भक्ति अन्य कवियों की तुलना में थोड़ी भिन्नता लिए हुए है। इसलिए जसवन्तसिंह की भक्ति की अन्य रीतिकालीन व भक्तिकालीन कवियों से तुलना करना स्वाभाविक हो जाता है।

---

[61] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 5
[62] वही, पृ. 33
[63] वही, पृ. 34
[64] वही, पृ. 41
[65] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 49
[66] वही, पृ. 50
[67] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ. 20

जसवन्तसिंह ने ग्रंथारम्भ गणेश वन्दना से की है लेकिन बिहारी ने राधा–कृष्ण की युगल उपासना से की है। बिहारी ने बहुत से पूर्ववर्ती भक्त कवियों की भांति स्वयं को बड़ा पापी अर्थात पाप का भागी बतलाया है और इसी संबंध से नाता जोड़ अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण से इस भवसागर से तारने के निमित्त कई प्रकार से अनुनय–विनय की है। कहीं पर बिहारी ने भगवान को उपालंभ भी दिये हैं। उपालंभ उसी को दिया जाता है जिसे आप बहुत प्रेम करे। जिससे वह उपालंभों से नाराज न हो। बिहारी के भगवान श्रीकृष्ण से प्रगाढ़ संबंध है। इसलिए वे भगवान श्रीकृष्ण की श्रद्धा प्राप्त करने के लिए उन्हें उकसाते हुए यहां तक कहते हैं कि –

"मोहि तुम्हें बाढी बहस, कौ जीते जदुराज।
अपने–अपने विरद की दूहूं निबाहन लाज।।"[68]

इस प्रकार जहां बिहारी की भक्ति में उपालंभ है वहीं भक्तिकाल के भक्त शिरोमणी सूरदास की भक्ति में अपने आरंभिक दौर में ईश्वर के प्रति दीनता अधिक है। बिहारी जहां स्वयं को सबसे बड़ा पापी घोषित करते हैं वहीं सूरदास स्वंय को सब पापियों का सरताज तथा जन्म से ही पापी मानते है। यथा –

"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।"[69]

ये अलग बात है कि सूरदास ने वल्लभाचार्य के संपर्क में आने के पश्चात् अपनी भक्ति में परिवर्तन लाकर वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य भाव की भक्ति की। जिससे इनकी भक्ति उर्ध्वगमन रूप लेती गई। वात्सल्य से क्रमशः माधुर्य भाव की भक्ति तक का सफर हुआ। जसवन्तसिंह ने किसी एक देवता को अपना आराध्य बनाकर भक्ति नहीं की और न ही उनकी भक्ति में दैन्य है तथा न स्वयं को लघु अथवा पापी माना है। उन्हें उस अन्तर्यामी परमात्मा से कुछ नहीं चाहिए। वह तो सिर्फ अपनी भक्ति में ही ध्यानमग्न है। जसवन्त सिंह सभी देवताओं की स्तुति करते हुए सभी को प्रसन्न करना चाहते है।

रीतिकाल में प्रमुखतः श्रृंगारिक काव्यों की रचना की गयी थी। लेकिन इन श्रृंगारिक काव्यों के साथ–साथ भक्ति के ग्रन्थ भी लिखे गये थे और श्रृंगारिक दोहों के साथ–साथ भक्ति के दोहे भी इन कवियों द्वारा लिखे गये थे। चिन्तामणि ने 'रामायण' ग्रन्थ की रचना की थी तथा बिहारी की 'सतसई' में श्रृंगारिक दोहों के साथ भक्ति के दोहे भी मिल जाते है। डॉ॰ नगेन्द्र के

---

[68] बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ. 168
[69] सूरसागरसार सटिक, सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 25

अनुसार "वास्तव में यह भक्ति भी इनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो यही अनुराग उनके धर्म–भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।"[70] बच्चन सिंह ने भी रीतिकालीन कवियों की भक्ति को दो कोटियों में वर्गीकृत किया है– "रीति कवियों की भक्ति भावना या तो परम्परा का पालन करती है या जीवनगत नैराश्य और क्षोभ का आश्रयस्थल प्रस्तुत करती है।"[71] लेकिन बच्चन सिंह ने बिहारी को प्रथम कोटि में रखा है। बिहारी की भक्ति जीवनगत नैराश्य से उपजी हुई नहीं है बल्कि वह परम्परा का पालन करती है। जसवन्तसिंह की भक्ति को अगर परखा जाये तो कहा जा सकता है कि उनकी भक्ति परम्परा से अनुप्राणित स्वानुभूत भक्ति है। उन्हें कोई जीवनगत नैराश्य नहीं था और न ही उन्होंने अतिशय रसिकता से निमज्जित शृंगारिक रचना की थी। उनकी अन्तः प्रज्ञा से उद्‌भुत भक्ति है।

भक्ति का उद्योग भक्तिकालीन सन्तों ने किया था जिनमें कबीर, सूर, तुलसी और जायसी प्रतिनिधित्व करते है। इनकी भक्ति भी अन्तःप्रज्ञा से प्राणित भक्ति थी। रीतिकालीन भक्ति पर इनका प्रभाव पड़ा था और जसवन्त सिंह ने इनका ही अनुसरण किया है।

वस्तुतः जिस तरह बिहारी को भक्ति के कुछ छन्द रचने के कारण भक्त नहीं ठहराया जा सकता ठीक उसी प्रकार जसवन्त सिंह को भी भक्त नहीं कह सकते। प्रमुखतः वे हमारे सम्मुख आचार्य के रूप में ही आते है। लेकिन इनके 'भाषाभूषण' ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को देखने पर उनकी अध्यात्म के प्रति रूचि का पता चलता है। इन्होंने कई ग्रन्थ धर्म और जीवन दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर लिखे है। जसवन्तसिंह के भक्ति के दोहों के उपर्युक्त तुलनात्मक दृष्टि से देखने के पश्चात हम कह सकते है कि उनमें दैन्य व नैराश्य नहीं है। जसवन्तसिंह ने जो भी भक्ति के दोहे लिखे है पूरी तन्मयता के साथ लिखे है। 'भाषाभूषण' में भक्ति के दोहे पर्याप्त मात्रा में है और उत्कृष्ट रूप में है।

वीर भावना

---

[70] रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 174
[71] थ्बहारी, बच्चन सिंह, पृ. 40

जसवन्तसिंह राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश के जोधपुर राज्य के महाराजा थे। जसवन्तसिंह ने अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध किये। उनका पूरा जीवन लड़ाइयों में ही बीता। वे युद्ध कौशल में निपुण थे और कई स्थानों पर फतेह हासिल की। इनके अधिकांश युद्ध अभियान तो मुगल बादशाहों के निर्देश पर होते थे। ये पहले शाहजहां के निर्देश पर युद्ध अभियान पर जाते थे लेकिन जब औरंगजेब बादशाह बने तो उनके निर्देश पर युद्ध मोर्चा संभालने लगे। महाराजा जसवन्तसिंह ने इन्हीं युद्ध अभियानों में अपनी वीरता का परिचय दिया है। महाराजा जसवन्तसिंह में युद्ध वीरता तो थी ही साथ ही साहित्य प्रेमी भी थे। जिससे ये अपने दरबार में कवियों को भी आश्रय देते थे और स्वयं भी रचनाएं करते थे। इसीलिए राजकाज में व्यस्त रहते हुए भी 'भाषाभूषण' ग्रन्थ लिखा और उसमें अन्य उदाहरणों के साथ वीर भाव से सम्बन्धित उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त किये है।

जसवन्तसिंह ने राजा को कैसा होना चाहिए उसके विषय में बतलाया है। जैसे राजा में दान वीरता होनी चाहिए, युद्ध में अपरिमित शौर्य प्रदर्शन करना चाहिए जिसके कारण उसकी कीर्ति युगों–युगों तक स्मरण की जाये। इसीलिए इन्होंने इस ग्रन्थ में दानवीरता, युद्धवीरता और कीर्ति अथवा यश के बहुमूल्य उदाहरण रखे है। जैसे दान के विषय में लिखा है –

"जाचक तेरे दान ते भए कलपतरु भूप।"[72]

"तो कर आगे कलपतरु क्यों पावै सनमान।"[73]

उपर्युक्त दोहों में इंद्रलोक में अवस्थित कल्पतरू से तुलना करते हुए राजा को उससे भी अधिक दान वीर कहा गया है। कल्पतरू को राजा की दानवीरता के सामने नगण्य स्थान दिया है। राजा–महाराजाओं में दान शीलता तो स्वाभाविक हैं उसके कारण ही संसार में उनका यशोगान होता है। महाराजा जसवन्तसिंह स्वयं दानवीर थे और इस स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे अतः इन्होंने पृथ्वीलोक से इन्द्रलोक तक के दानवीरों से तुलना की है।

महाराजा जसवन्तसिंह युद्ध कौशल में निपुण थे तथा रणक्षेत्र में अपनी युद्ध वीरता का अच्छा परिचय दिया है। उसी के मद्देनजर इन्होंने एक राजा के युद्ध कला और शत्रुओं पर उसके प्रभाव का ओजपूर्ण शैली में वर्णन किया है। अपने रण कौशल के चिरसंचित अनुभव के आधार पर 'भाषाभूषण' में बहुत अच्छे उत्साहवर्धक उदाहरण रखे है। जैसे एक उदाहरण में वे युद्धवीर का वर्णन करते हुए लिखते है –

---

[72] ज. ग्रं. भाषाभूषण, 64

[73] वही, पृ. 25

"तो सर लागत ही धनुषहिं अरू अरिअंग।"[74]

"बान न पहुंचे अंग लौ अरि पहिले गिरि जाहिं।"[75]

"तुव अरि भाजत फिरत भाजत है सतराई।"[76]

इसमें इन्होंने जिस वीरता का चित्रण किया है उससे शरीर में रोमांच की अनुभूति होने लगती है और उत्साह का संचार होने लगता है।

महाराजा जसवन्तसिंह ने उपर्युक्त दोनो परिस्थितियों के फलस्वरूप जो स्थितियां आती है उसका भी वर्णन किया है। दानवीरता और युद्ध वीरता के फलस्वरूप एक राजा की कीर्ति किस प्रकार तथा कहां तक विस्तारित होती है उसका भी वर्णन किया है। यथा –

"कीरति अरिकुल संग ही जलनिधि पहुंची जाइ।"[77]

"सात दीप नव खण्ड में कीरति नाहिं समात।"[78]

"कीरति आगे तुहिनगिरी छुए परत पहिचानि।"[79]

इतना ही नहीं इन्होंने राजा की शरीरयष्टि तथा शोभा का चित्रण भी किया है। यथा –

"दृग श्रुति पर श्रृति बाहु पर बाहु जंघा लौंजानि।"[80]

"गज मद सों नृप तेज सों सोभा लहत बनाई।"[81]

इस प्रकार जसवन्तसिंह के वीर भाव से संबन्धित दोहों का विवेचन करने से हमें ज्ञात होता है कि इनके दोहे ओजपूर्ण शैली में लिखे गये हैं और यथार्थ के काफी निकट है। हाँ कहीं पर थोड़ी अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। लेकिन वीरता से सम्बन्धित उदाहरण रखते हुए अथवा युद्ध कौशल का वर्णन करते हुए थोड़ी कल्पना तथा थोड़ी अतिशयोक्ति का समायोजन वस्तुतः किया जाता है। यह एक परिपाटी है जो काव्य क्षेत्र में परम्परा के रूप में चली आ रही है। जिसे बाद में भूषण, पद्माकर, लाल, सूदन आदि ने जीवित रखा।

जसवन्तसिंह के वीर भाव के दोहे अपने आप में बहुत अच्छे प्रतीत होते हैं। लेकिन अपने समकालीन ओजपूर्ण शैली में रचना करने वाले कवि

---

[74] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 26
[75] वही, पृ. 27
[76] वही, पृ. 47
[77] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 31
[78] वही, पृ. 42
[79] वही, पृ. 47
[80] वही, पृ. 44
[81] वही, पृ. 28

शिरोमणि भूषण के दोहों की तुलना में कहाँ उतरते हैं, यह देखना हैं। इसलिए भूषण से जसवन्तसिंह की तुलना अनिवार्य प्रतीत होती है।

रीतिकाल में जिस प्रकार शृंगार की सरिता बह रही थी ठीक उसी के समानांतर वीरता की ज्वाला भी धधक रही थी। रीतिकाल में वीरता की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने में भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर और श्रीधर प्रमुख हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखते हैं– "इन पाँचों में भी उदात्त–भावना–भावित कर्त्ता दो ही हैं– भूषण और लाल। भूषण की उदात्त भावना लाल से भी बढ़ी चढ़ी कही जा सकती है। भूषण ने आश्रयदाताओं को परखकर महाराज शिवाजी और छत्रसाल को चरित्र नायक बनाया था।"[82]

रीतिकाल में कतिपय राजदरबारी कवि अपने आश्रयदाताओं के वैभव का अत्यधिक बखान और वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते थे। केशव, देव और पद्माकर आदि के ग्रन्थ पद्माकर आदि के ग्रंथ इसी श्रेणी के हैं। लेकिन 'शिवराज भूषण' नामक ग्रंथ जो शिवाजी के आश्रित कवि भूषण ने लिखा था, शिवाजी के शौर्य, पराक्रम और उसकी वीरता को उजागर करता है उसमें राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते है। इसमें वीर शिवाजी के युद्ध कौशल और प्रजावत्सलता वास्तविक रूप में चित्रित हुई है। फिर भी अलंकारों के मोह में भूषण ने जसवन्तसिंह की तरह कहीं–कहीं अतिरंजना का प्रयोग किया है।

जसवन्तसिंह और कविवर भूषण में समानता की दृष्टि से देखा जाए तो सर्वप्रथम जब हम इनके ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते है तो एक बात ध्यान में आती है कि दोनों ने ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। दोनों ने ही लक्षण के उदाहरण रूप में वीरता से सम्बन्धित उदाहरण रखे हैं। शृंगार और भक्ति के उदाहरण भी लिखे है। भूषण एक राजदरबारी कवि थे और राजा महाराजाओं के आश्रय में प्रशस्ति गान किया करते थे वहीं आलोच्य आचार्य जसवन्तसिंह मारवाड़ प्रदेश के महाराजा थे। भूषण युद्ध अभियान के समय पर्यवेक्षक के रूप में मौजूद रहते थे वहीं महाराजा जसवन्तसिंह युद्ध अभियान में भाग लेकर अपने युद्ध–कौशल का परिचय देते थे।

दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये चार प्रकार के वीर माने गये है और इनका समुचित वर्णन जसवन्त सिंह और भूषण ने अपने काव्य में किया है। "भूषण ने इन चारों का वर्णन किया है। 'दानवीर' का उदाहरण 'मंगल मनोरथ के प्रथमहि दाता तोहि' प्रतीक के कवित्त में, 'दयावीर' का उदाहरण 'जाहि पास जात सो तो सखि ना सकत याते' प्रतीक कवित्त में, 'धर्मवीर' का उदाहरण 'बेद राखे बिदित पुरान परसिद्ध राखे' प्रतीक के कवित्त में

---

[82] भूषण ग्रंथावली, आ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 33

समझिए।" [83] कविवर भूषण ने कहीं–कहीं युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर चारों का एक ही कवित्त में वर्णन कर दिया है। यथा–

"दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहु की,
संपत्ति लुटायबे को हियो ललकत है।
साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर,
सिव की कथान में सनेह झलकत है।
भूषन जहान हिंदूआन के उबारिबे को,
तुरकन मारिबे को बीर बलकत है।
साहिन सो लरिबे की चरचा चलति आनि,
सरजा के दृगन उछह छलकत है।।"[84]

इस कवित्त के चारों चरणों में क्रमशः दान, धर्म, दया और युद्ध की वीरता वर्णित है।

जसवन्तसिंह ने भी अपने उदाहरणों में इन तीनों की वीरता का उचित वर्णन किया है। जसवन्तसिंह ने तीनों वीरों का अलग–अलग वर्णन किया है। भूषण के उदाहरण की तुलना के रूप में जसवन्तसिंह के उदाहरण देखिए–

युद्धवीर –

"बान न पहुंचे अंग लौं अरि पहिलें गिरि जाहिं।"[85]

दानवीर –

"जाचक तेरे दान ते भए कलपतरु भूप।"
तो कर आगे कलपतरू क्यों पावै सनमान।"[86]

धर्मवीर –

"तू ही श्रीनिधि धर्मनिधि तु ही इन्द्र अरु चंद।"[87]

जसवन्त सिंह ने दयावीर का वर्णन नहीं किया है। ये महाराजा थे इसलिए युद्ध अभियान में अपने शत्रुओं पर तो दया की नहीं होती। हाँ प्रजा वत्सल रहते हुए दया अवश्य की होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन उसका वर्णन इन्होंने नहीं किया।

जसवन्तसिंह और भूषण के उदाहरणों में साम्यता इसलिए आ गयी है कि दोनों ने ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिये है। जब अलंकार दोनों के एक है तो उदाहरण भी इसी

---

[83] भूषण ग्रंथावली, आ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ. 48
[84] भूषण ग्रं., सं. श्यामबिहारी मिश्र व शुकदेवबिहारी मिश्र, पृ. 90
[85] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 27
[86] ज. ग्रं. भाषाभूषण, पृ. 64
[87] वही, पृ. 28

अलंकार के जैसे ही होंगे। फलतः उदाहरणों में भी सामानता आ गयी है। जैसे अक्रमातिशयोक्ति, दीपक, गुंफ और अधिक अलंकार को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कवियों का मंतव्य एक ही है। यथा

"दच्छिन के नाथ सिवराज! तेरे हाथ चढ़ै,
धनुश के साथ गढ़ कोट दुरजन के।
भूषन असीसें तोहिं करत कसीसैं पुनि,
बान के साथ छूटैं प्रान तुरकन के।।"[88]

अब इसी अक्रमातिशयोक्ति का उदाहरण जसवन्तसिंह के उदाहरण से तुलना देखिए–

"तो सर लागत साथ ही धनुषहि अरि अंग।"[89]

भूषण के 'बान के साथ छूटै प्रान तुरकन के' और जसवन्तसिंह की उपर्युक्त पंक्ति में काफी समानता है। इसी प्रकार की समानता दोनों के अधिक अलंकार के उदाहरण में दिखाई देती है। यथा –

"सात दीप नव खण्ड में कीरति नाहिं समात।"[90]

अब भूषण का उदाहरण देखिए –

"जाको जस टंक सात दीप नवखंड महि
मंडल की कहा ब्रहमंड ना समात है।।"[91]

भूषण दो कदम आगे है। वे शिवाजी की कीर्ति के लिए ब्रह्माण्ड को भी कम मानते है। अन्ततः जसवन्तसिंह के संदर्भ में विभिन्न प्रकार से अवलोकन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि जसवन्तसिंह एक सफल आचार्य होने के साथ–साथ श्रृंगार, भक्ति और वीरता से सम्बन्धित रस–स्निग्ध उदाहरणों के कारण वे कवि के रूप में भी अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफल हुए हैं।

---

[88] भूषण ग्रं., सं. श्यामबिहारी मिश्र व शुकदेवबिहारी मिश्र, पृ. 36
[89] ज. ग्रं. भाषाभूषण पृ. 26
[90] वही, पृ.42
[91] भूषण ग्रं., सं. श्यामबिहारी मिश्र व शुकदेवबिहारी मिश्र, पृ. 64

उपसंहार

रीतिकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में जसवंतसिंह के रचनाकर्म का अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि जसवंतसिंह ने रीतिकालीन परिवेश और परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाते हुए अपने रचना कर्म को पूर्ण किया। जसवंतसिंह की रचनाओं में रीतिकाल की सम्पूर्ण प्रवृतियां परिलक्षित हो जाती है। हमने इस शोध प्रबंध में यह दिखाने का प्रयास किया है कि जिस समय जसवंतसिंह साहित्य–सर्जना कर रहे थे उसी समय तत्कालीन रीतिकालीन साहित्यिक परिवेश में अन्य रचनाकार भी जो साहित्य–सर्जन कर रहे थे वे रचनाकार किन विषयों पर अपनी लेखनी चला रहे थे? क्या उस समय केवल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का ही प्रणयन हो रहा था या इन रचनाकारों का साहित्यिक दृष्टिकोण अपनी कल्पनाओं की तरह विस्तृत था। जसवंतसिंह के आचार्यत्व की तत्कालीन रीतिकालीन आचार्यों से तुलना करते हुए यह सिद्ध किया है कि क्या जसवंतसिंह आचार्य की श्रेणी में आते हैं? इस शोध–प्रबंध में और भी कई तथ्यों पर दृष्टिपात किया गया है।

जसवंतसिंह की रचनाओं के संदर्भ में अभी तक बारह रचनाओं का पता चलता है। जिसमें से इन्होंने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का तीन भिन्न–भिन्न रूपों में अनुवाद किया गया है। भिन्न–भिन्न रूपों से तात्पर्य यह है कि प्रथम रूप में इन्होंने 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर टीका लिखी है वहीं दूसरे रूप में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भाषा दोहा के रूप में अनुवाद किया है तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' की कथाओं का 'गीता माहात्म्य' के रूप में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त इनकी दो कृतियां 'भाषाभूषण' और 'दोवा' सिद्धान्त काव्य है। जसवंतसिंह के प्रबोधात्मक साहित्य के रूप में इनकी अन्य रचनाएं आ जाती हैं जो इनकी मौलिक रचनाएं हैं। 'भाषाभूषण' और 'दोवा' काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं जसवंतसिंह ने 'भाषाभूषण' के उपजीव्य ग्रंथों के रूप में जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानंद' को रखा है। वैसे तो जसवंतसिंह ने सारी सामग्री इन दो ग्रंथों को उपजीव्य ग्रंथ बनाते हुए भी कहीं–कहीं अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है जिसका वर्णन हम पीछे द्वितीय अध्याय में कर आये हैं। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' इस रूप में अन्यतम है कि यह हिन्दी साहित्य का ऐसा प्रथम ग्रंथ है जो कि संक्षिप्त शैली में लिखा गया और जिसका अनुकरण जसवंतसिंह के परवर्ती रचनाकरों ने किया है। चूंकि जसवंतसिंह के अन्य ग्रंथ आध्यात्मिक ग्रंथ हैं इसलिए इन ग्रंथों में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। जसवंतसिंह के

आध्यत्मिक ग्रंथों में काम–क्रोधादि मनोविकारों का तथ्यात्मक विवेचन किया गया है और सांसारिक जीव को संसार की असारता दिखाकर माया–मोह से बचने की प्रेरणा दी है। जसवंतसिंह ने इन आध्यात्मिक ग्रंथों में अत्यंत ही सुबोध शैली में विविध उदाहरण देकर जीव को इस मिथ्या और भ्रामक जगत से विरक्त रहने की प्रेरणा दी है, अन्यथा इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को तिरस्कृत कर वह व्यर्थ गंवा देगा। जीवन को सात्विक जीवन व्यतीत करने के प्रेरणार्थ नश्वरता का बोध भी कराया है।

जसवंतसिंह ने 'भाषाभूषण' में जहां अपने आचार्यत्व का परिचय दिया है वहाँ अपने प्रबोधात्मक साहित्य में धर्म, अध्यात्म, दर्शन और योग जैसे विषयों पर भी अपने सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं। इन्होंने अपने प्रबोध नाटक, आनन्दविलास, अपरोक्षसिद्धान्त तथा सिद्धान्त बोध जैसे लघु–ग्रंथों में दार्शनिक विचारों को यत्र–तत्र व्यक्त किया है। दार्शनिक दृष्टि से जसवंतसिंह पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव था। तदनुसार इन्होंने 'ब्रह्म सत्यम् जगन् मिथ्या' के मत का प्रतिपादन किया है।

रीतिकाल में अधिकतर कवि राजदरबार में रहते थे तथा जिन्हें शिक्षित करने के लिए ये कवि रीति ग्रंथों का निर्माण कर रहे थे वह पंडितों का वर्ग न होकर रसिकों का समुदाय था, जिन्हें काव्यशास्त्र के सूक्ष्म एवं गम्भीर विषयों को ग्रहण करने का अवकाश नहीं था। इसलिए आचार्यों ने नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण न कर संस्कृत काव्यशास्त्र को हिन्दी में उल्था ही प्रस्तुत कर दिया। जसवंतसिंह भी इसी श्रेणी में आते हैं। लेकिन जिस प्रकार केशव तथा भिखारीदास जैसे कतिपय आचार्यों ने अलंकार और नायिका–भेद निरूपण के क्षेत्र में यत्र–यत्र मौलिक उद्भावनाएं की हैं उसी प्रकार जसवंतसिंह ने भी अपने उपजीव्य आचार्यों से भिन्न मार्ग अपनाया है। हमने आलोच्य शोध–प्रबंध के तृतीय अध्याय के उप–अध्याय 'आचार्यत्व' में केशव तथा अन्य रीतिकालीन आचार्यों से तुलना करते हुए जसवंतसिंह के आचार्यत्व को सिद्ध किया है। हमने यही निष्कर्ष निकाला कि अन्य रीतिकालीन आचार्य कवि–शिक्षक ठहरते हैं जबकि जसवंतसिंह आचार्य की श्रेणी में आते हैं। हिन्दी के रीति आचार्यों की प्रमुख एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया है। निष्कर्ष यह है कि रीतिकालीन आचार्यों में सैद्धांतिक मौलिकता हो या न हो, उनका सबसे बड़ा श्रेय यह है कि संक्रमणकाल में भी उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा को जीवित रखा। जसवंतसिंह आचार्यत्व की श्रेणी में तो आते ही हैं साथ ही उन्होंने जो लक्षण के रूप में उदाहरण दिये हैं उससे इनकी कवित्व–शक्ति का भी बोध हो

जाता है। उन्होंने शृंगार, भक्ति तथा वीर के बहुत अच्छे उदाहरण पेश किये हैं।

निष्कर्षतः जसवंतसिंह के कृतित्व का मूल्यांकन करने पर इनके साहित्य में जहां एक ओर प्रौढ़ एवं गम्भीर आचार्यत्व के दर्शन होते हैं वहीं दूसरी ओर वे सहज कल्पना के भावुक कवि के रूप में सामने आते हैं। सम्पूर्ण रीतिकालीन परंम्परा में ऐसे कम ही कवि हुए हैं जिन्हें शास्त्रपक्ष और काव्यपक्ष दोनों में समान रूप से सफल कहा जा सके। यह कहा जा सकता है कि जसवंतसिंह ने प्राचीन संस्कृत आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया है वह उनके पांडित्य के साथ–साथ बहुज्ञता का परिचय भी देता है। इन्होंने काव्यशास्त्र संबंधी सामग्री को एकत्र कर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में महान योगदान दिया है। कवियों के साथ–साथ तद्विषयक जिज्ञासुओं के लिए भी आपके ग्रंथ पथ–प्रदर्शन का कार्य करते रहे हैं तथा भविष्य में भी चिरकाल तक उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखेंगे। निश्चय ही महाराजा का यह स्तुत्य प्रयास सराहनीय है और हिन्दी साहित्य उसके लिए उनका चिरकाल तक ऋणी रहेगा।

आधार ग्रन्थः—

- विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं०) — जसवंतसिंह ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1972

संस्कृत ग्रन्थः—

- अप्पयदीक्षित — कुवलयानंद सत्यभामा मुंबई प्रकाशन, नवम् संस्करण, 1997
- केशवदास — रसिकप्रिया, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1958
- केशवदास — रसिकप्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक, टीकाकार विश्वनाथप्रसाद मिश्र कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1958
- जयदेव — चन्द्रालोक, व्याख्याकार, चन्द्रमौलि द्विवेद्वी, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1991
- धनंजय — नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक, सं० हजारी प्रसाद द्विवेद्वी, पृथ्वीनाथ द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वित्तीय संस्करण, 1971
- मम्मट — काव्य प्रकाश, व्याख्याकार, श्रीनिवास शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2002

- रूपगोस्वामी — उज्ज्वलनीलमणि, सं० केदारनाथ, वासुदेव लक्ष्मण शर्मा पाणशीकर, पाण्डूरंग जावजी, बम्बई, 1932
- विश्वनाथ — साहित्यदर्पण, व्याख्याकार शालीग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, नवम् संस्करण, 1977

हिन्दी के संन्दर्भ ग्रन्थः–

- ऊषापुरी — रीतिकालीन कविता में भक्ति–तत्व, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1978
- एस. आर. श्रीवास्तव — रीतिकाल में श्रृंगार निरूपण, प्रगति प्रकाशन, आगरा, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1978
- ओम प्रकाश — हिन्दी अलंकार साहित्य, भारती साहित्य मंदिर फव्वारा, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1956
- किशोरीलाल गुप्त — भूषण, मतिराम तथा अन्य भाई, विद्या मंदिर, ब्रह्मनाल, वाराणसी संस्करण तथा सन् उल्लेखित नहीं,
- कृष्ण दिवाकर — भोंसला राजदरबार के हिन्दी कवि, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1994
- कृष्ण बिहारी मिश्र (सं०) — बिहारी रत्नाकर, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001
- गुलाबराय एम. ए. (सं०) — भाषाभूषण, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, प्रथम संस्करण, 1949

- धीरेन्द्र वर्मा (सं०) — सूरसागर सार सटीक, साहित्य भवन, प्रा० लि० इलाहाबाद, संस्करण उल्लेखित नहीं, 2002
- नगेन्द्र — देव और उनकी कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1969
  रीति काव्य की भूमिका नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण सातवां, सन् उल्लेखित नहीं
  हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं०), मयूर पैपरबैक्स, संस्करण 31, 2005
  हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास (षष्ठ भाग) (सं०), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1963
- प्रकाश आतुर — राजस्थान की हिन्दी कविता, संघी प्रकाशन, जयपुर, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1979
- बच्चन सिंह — बिहारी का नया मूल्यांकन, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, नवीन परिवर्द्धित संस्करण, सन् उल्लेखित नहीं
  बिहारी (भारतीय साहित्य के निर्माता) साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 2004
- भगीरथ मिश्र — हिन्दी रीति साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1989 आवृति 1999
- मनोहरलाल गौड़ — घनानंद और रीतिकाव्य की स्वच्छंद काव्यधारा, नागरी प्रचारिणी सभा,

वाराणसी, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1972

- महेन्द्र प्रताप सिंह — रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या, हिन्दी बुक सेन्टर, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1977
- मानवेन्द्र पाठक — रीतिशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्य, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1994
- मिश्रबन्धु — मिश्रबन्धु विनोद (द्वितीय भाग), गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1937
- मोतीलाल मेनारिया — राजस्थान का पिंगल साहित्य, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 2006
- राजवंश सहाय 'हीरा' — अलंकारों का ऐतिहासिक विकास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, संस्करण उल्लेखित नहीं, 2000
- रामकुमार शर्मा — देव और पद्माकर : तुलनात्मक अध्ययन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1992
- रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, दिल्ली, नवीन संस्करण, सन् उल्लेखित नहीं
- रामजी मिश्र — रीतिकाव्य के स्रोत, वार्तिक अनुवचन, विश्वनाथप्रसाद मिश्र,

आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973

- रामदेव शुक्ल — घनानंद का काव्य, सोहन प्रिंटिंग सर्विस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1976
- रामनाथ मेहता — हिन्दी के ग्रंथों का काव्यशास्त्रीय विवेचन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1993
- विश्वनाथप्रसाद मिश्र (सं०) — भूषण ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1994

हिन्दी साहित्य का अतीत–शृंगारकाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1997

- श्याम बिहारी मिश्र — शुकदेव बिहारी मिश्र (सं०), भूषण ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, अष्टम संस्करण, 1989
- हरिमोहन मालवीय (सं०) — बिहारी का काव्य सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, संस्करण उल्लेखित नहीं, 1969

कोश ग्रंथ :–

- जवाहर लाल चतुर्वेदी (सं०) — ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रंथ कोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1956

- बद्रीनाथ प्रसाद साकरिया एवं भूपतिराम साकरिया (सं०) — राजस्थानी हिन्दी शब्दकोश (खण्ड 1–2–3), पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सन् एवं संस्करण उल्लेखित नहीं
- रामचन्द्र वर्मा (सं०) — बृहत्त हिन्दी शब्दकोश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण, 2006
- विद्यानिवास मिश्र — साहित्य ब्रजभाषा कोश, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1985